अन्तर की बात

[पचीस मनोवैज्ञानिक, कलात्मक कहानियाँ]

लेखक

श्रीराधाकृष्णप्रसाद

प्रकाशक

पुस्तक-भंडार

पटना और लहेरियासराय

प्रथम संस्करण] [मूल्य १।)

अनुक्रम

पथे-चला एई देखाशोना
छिल याहा खणचर
चेतनार प्रत्यन्त प्रदेशे
चित्ते आज ताई जेगे उठे...

—रवीन्द्रनाथ

परिचय

[१]

"श्री राधाकृष्ण प्रसाद (आरा) नवयुवक कथाकारों की टोली में अग्रदूत की भाँति अगली पाँती पर नायकत्व का झंडा लिये खड़े हैं। आपकी कहानियाँ 'सादगी और सुन्दरता' का नमूना हैं। छोटी-छबीली कहानियाँ, फालतू एक शब्द भी नहीं, भरती का एक वाक्य नहीं, जीवन के मर्म-पक्ष को छूनेवाली कल्पना, पाठक के हृदय और मस्तिष्क को दोनों हाथों पर गेंद की तरह संतुलन के साथ उछालनेवाली भावना-लहरी, अकृत्रिम कृषक-कन्या की-सी भोली-भाली भाषा, दुधमुँहे बच्चे की मुस्कान जैसी मनभावनी शैली। 'देवता', 'विभेद' और 'अन्तर की बात'—तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं; और अभी अनेक छपी कहानियाँ संग्रह-रूप में प्रकाशित होने की बाट जोह रही हैं; एक नूतन उपन्यास भी प्रकाश की प्रतीक्षा में है। आप कॉलेज की उच्च कक्षा (बी० ए० ऑनर्स) के छात्र हैं अभी; पर भविष्य के कथा-साहित्य-क्षेत्र की उर्वरता आपकी सुपुष्ट प्रतिभा के कणों के लिये उत्सुक जान पड़ती है। बँगला के कथा-साहित्य-सागर का आपने तन्मयता से मन्थन किया है। आपके पूर्ण विकास का युग बिहार का प्रभापूर्ण स्वर्णयुग होगा, इसमें सन्देह नहीं।"

['जयन्ती-स्मारक-ग्रन्थ' के 'बिहार के कथाकार' से : पृष्ठ ५७०]

[इस कहानी (अन्तर की बात) के लेखक बिहार के हैं। पटना विश्वविद्यालय के छात्र हैं। सम्मानित पत्र-पत्रिकाओं में आपकी कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। 'देवता' (स्केचों का संग्रह) और 'विभेद' (प्रगतिशील कहानी-संग्रह) नामक आपकी दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आप बड़े सधे हुए हाथों से थोड़े में बहुत साफ चीजें लिखते हैं। उज्ज्वल कमल की तरह आपका कथानक अन्तःकरण की सजल तलहटी को स्पर्श करता है।]—शान्तिप्रिय द्विवेदी

'कमला' नववर्षांक, १९४१

निवेदन

इस संग्रह की सभी कहानियाँ 'हंस', 'विशाल-भारत', 'माधुरी', 'कमला', 'कहानी', साप्ताहिक 'आज', 'नवशक्ति', 'योगी', 'बिजली', 'विश्वमित्र', इत्यादि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।

'अन्तर की बात' मेरी दूसरी कहानी-पुस्तक 'विभेद' से एक भिन्न दृष्टिकोण की वस्तु है। 'विभेद' में सर्वहारा और पीड़ित-वर्ग की तिलमिलाहट है। यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है कि आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य में आलोचकों ने 'विभेद' को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

'अन्तर की बात' का क्षेत्र बिखरा है। मनोविश्लेषण (Psycho-Analysis) इसका एक ध्येय है। आज के साहित्य पर विश्वविख्यात मनोवैज्ञानिक डाक्टर फ्रॉयड के सिद्धान्तों की छाप है। ये कहानियाँ आंशिक रूप से उन सिद्धान्तों से प्रभावित हैं।

'अन्तर की बात' में आज की भारतीय नारी है। वह पत्नी है, प्रेयसी है, माँ है, और बहन भी; किन्तु जो संघर्ष उसके पुरातन संस्कारों से आज हो रहा है, लेखक ने उसे 'यथार्थ' की आँखों से देखा है। यह नारी स्वस्थ नहीं है, इस कठोर सत्य को तो स्वीकार करना ही पड़ता है। वह अपने अंदर पीड़ा पाल लेती है और घुलघुल कर, एक दिन, दीप की लौ ही की तरह शेष हो जाती है।

किन्तु साथ ही यह कह देना अच्छा होगा कि Dynamic Psychology की आड़ में लेखक ने भारतीय नारी को नग्न नहीं कर दिया है।

'अन्तर की बात' की प्रधान-वस्तु आदर्शीकरण (idealisation) या कोई चमत्कार (amazement) नहीं है। चित्तवृत्तियों और भावनाओं की चेतना, अन्तर्द्वन्द, व्यावहारिक और दैनिक समस्याओं को ही लेखक ने ग्रहण किया है।

विश्वास है, 'अन्तर की बात' आपके अन्तःकरण को स्पर्श करेगी।

विनीत,

श्रीराधाकृष्ण प्रसाद

अन्तर की बात

तब गौरी की उम्र सात-आठ साल की थी। हवा की तरह चंचल, हँसी की तरह मधुर और प्रभात की तरह निर्दोष, वह छोटी-सी गौरी मेरे जीवन का एक अंग बन गई थी। अपने उड़ते हुए लटों को हटाकर वह मुझसे पूछती—"प्रमोद, तुम्हारे बाबूजी के पास बहुत पैसे हैं न?"

"हाँ, री।"

"कितने होंगे, बता सकते हो?"

मैं उसके भोलेपन पर मुग्ध रह जाता। उन दिनों मैं नौ-दस साल का रहा हूँगा। इसलिए अपनी कल्पना को अपनी अवस्था के अनुसार फैला मैं कहता—"इतने हैं कि तू गिन भी नहीं सकती!"

गौरी की आँखें कुतूहल से भर जातीं। कुछ देर सोचने के बाद वह कहती—"मेरे बाबूजी के पास पैसे क्यों नहीं हैं?"

"भगवान् ने नहीं दिया।"

"क्यों?"

"यह मैं क्या जानूँ?"

गौरी उदास हो जाती। कुतूहल के स्थान पर व्यथा घर कर लेती। उसकी वह मुद्रा यादकर आज भी मैं अवाक् रह जाता हूँ।

सारे मुहल्ले में गौरी ही मेरी मित्र थी और उससे ही मेरी खूब पटती थी। न जाने कितने तमाचे उसने सहे होंगे। कितने गोल-गोल आँसू उसके कपोलों पर सूखे होंगे। किंतु, इन लड़ाई-झगड़ों से भी हमारे बीच कोई दीवार खड़ी नहीं होती। कभी-कभी रूठकर वह कहती—"जाओ जी, मैं तुमसे नहीं बोलती...... तुम बड़े 'वो' हो।"

"नहीं बोलोगी ?"

"नहीं।"

"नहीं ?"

"नहीं।"

मैं मुँह बनाकर कहता—"चमगादड़ लाऊँ ?"

"मैया री !"—कह वह मुझसे चिपट जाती। चमगादड़ों से उसे बड़ा भय था। जब कभी ऐसी परिस्थिति आती, यह शब्द ही गौरी को झुकाने के लिये काफी था।

समय के साथ-साथ हम बड़े होते गये। धनी माँ-बाप का इकलौता होकर मैंने 'अभाव' को कब पहचाना है ? शीघ्र ही मैं पढ़ने के लिये शहर भेज दिया गया। वहाँ के वातावरण से मैं ऊब उठता। कहाँ थे वे दिन ? किशोरावस्था की सीढ़ी पर खड़ा होकर मैं सोच रहा था, उम्र के साथ ही क्या हम मानवता से दूर नहीं चले जाते हैं ?

और दूसरी बार जब मैंने गौरी को देखा, वह यौवन की किश्ती पर खड़ी थी। उसका रूप फूटा पड़ता था और आँखों की चंचलता के स्थान पर गंभीरता की एक छाया ने घर कर रखा था।

मैं बोला—"गौरी...?"

लाज से वह लाल हो उठी।

"आज तुम्हें कितने दिनों बाद देखा है...।"

गौरी चुप रही।

"वहाँ क्या मन लगता है, गौरी? मोटी-मोटी किताबों को लेकर जब पढ़ने बैठता हूँ तब तुम्हारी याद आ जाती है......।"

गौरी ने सिर का आँचल और खींच लिया।

मैं बोला—"सुना है, तुम्हारे ब्याह के लिये तुम्हारे बाबूजी परीशान हैं...मुझे अपने ब्याह में बुलाओगी, गौरी...?"

मैंने देखा, गौरी का चेहरा पीला पड़ गया है।

(२)

और, एक दिन जब मुझे यह खबर मिली कि गौरी का ब्याह एक अधेड़ व्यक्ति से कर दिया गया, तो मैं मानो संज्ञाहीन हो गया। प्रोफेसर लेक्चर दे रहे थे, किन्तु मेरा मन एक व्यथा से भर गया था। जाने एक कैसा अभाव मेरे प्राणों में समा गया।

घर आने पर गौरी की माँ से भेंट करने गया। उसने आँचल से आँसू पोंछते हुए कहा था—"भैया, हम गरीब और कर ही क्या सकते थे? तिलक-दहेज के लिये रुपये कहाँ से लाते?

किसी तरह गहने बेचकर निबाह सकी हूँ। हमारी फूल-सी बिटिया की हालत तुम देखते...... ।"

वहाँ मैं और न ठहर सका। हृदय की उमड़ती पीड़ा को दबाकर शहर लौट आया।

किन्तु, गौरी की वह स्मृति ?

स्वप्न देखता, गौरी की मंजुल मूर्ति मेरे समीप आ खड़ी हुई है। वह कातर आँखों से देखते हुए मानो कह रही है—"प्रमोद, मुझे बचाओ। मैं डूब रही हूँ... !"

मेरा मन हाहाकार कर उठता।

कुछ महीनों बाद मैं गर्मी की छुट्टी में घर गया, तो बहुत-सी बातें मालूम हुईं। गौरी का पति आवारा है। शराब पीकर वह गौरी को पीटता भी है।

मेरे रोंगटे खड़े हो गये। एक दिन धड़धड़ाते हुए जब मैं गौरी के घर में घुसा, वह तलहथी पर सिर रक्खे कुछ सोच रही थी।

मैंने पुकारा—"गौरी..."

सिर का आँचल खींच वह खड़ी हो गई। मैंने देखा, गौरी का चेहरा इस अकल्पित घटना से स्याह पड़ गया है।

उसने हौले स्वर में कहा—"बैठिये... ।"

"गौरी, तुम कितनी बदल गई।"—मेरे मुँह से निकल गया।

क्षण-भर के लिये उसने मेरी आँखों में अपनी आँखें में डाल दीं। कितनी सूनी थीं वे आँखें !

मैंने पूछा—"वह तुम्हें पीटते भी हैं, गौरी ?"

प्रश्न सुनकर गौरी सन्न रह गई। किन्तु कुछ देर बाद अपने अधरों पर म्लान हँसी ले बोली—"हाँ, प्रमोद बाबू, यह देखिये।" कहकर उसने अपनी बाँह दिखला दी। उसपर बेंत की चोट के काले निशान थे!

मेरा मन रोष और घृणा से भर गया। अपनी साँस को रोककर मैं बोला—"पापी कहीं का...अगर उसे पाऊँ...।"

"अरे, नहीं-नहीं..." मेरे मुँह पर हाथ रखते वह बोली—"आप उन्हें अपशब्द न कहें। वे मेरे देवता हैं।"

"देवता?"

"हाँ।"

"इससे चांडाल अच्छा होगा"—कह तुरत ही मैं कमरे से बाहर हो गया।

❀ ❀ ❀

जीवन के वे दिन हँसी-खुशी और मस्ती में मैं काट रहा था। यौवन की मदमाती लहर में बहकर डेढ़ वर्ष तक मैंने गौरी की खोज-खबर नहीं ली, मानों उसे भूल गया था। शायद उसे भूलने के ही लिये मैंने दुनिया की हँसी-खुशी में अपनेको डुबो रक्खा था।

कभी-कभी सूनी घड़ियों में जब मन उचट जाता, गौरी की याद सताती। काश, वह मेरी होती!

माँ पूछती—"क्यों रे प्रमोद, आखिर तू ब्याह कब करेगा? क्या मेरी चिता के साथ-ही साथ मेरे अरमान जायँगे...?"

"ओ माँ..." मेरी भर्राई आवाज निकल पड़ती।

"तू मुझे खूब सता रहा है, प्रमोद! माँ के हृदय को तू नहीं समझ सकता...।"

मैं क्या उत्तर देता? कैसे समझाता अपनी स्नेहमयी जननी को? मैंने जो खोया है, जो ठेस खाई है, उसकी पीड़ा का अनुमान कौन कर सकता है?

❀ ❀ ❀

एक दिन एक गंदा पोस्टकार्ड मेरे नाम से आ पड़ा। उसमें लिखा था—

"प्रमोद बाबू,

"आज आपसे कुछ भीख माँगने आई हूँ। अपनी इस अभागिनी गौरी की प्रार्थना को न ठुकराइयेगा। मेरे पति एक बड़ी मुसीबत में पड़ गये हैं। उन्हें करीब ५००) रुपये चाहिये। रात-दिन वे मेरे सामने गिड़गिड़ाया करते हैं। एक भारी संगीन मुकद्मे में वह फँसे हैं और रुपयों के अभाव में उनको जेल की सजा हो सकती है।

"मैं नारी और कर ही क्या सकती हूँ? एक आप ही आशा की किरण हैं, और किसके सम्मुख आँचल पसारूँ?"

दूसरे दिन मैंने पाँच सौ का चेक गौरी के पति के नाम भेज दिया।

(३)

धीरे-धीरे पाँच वर्ष बीत गये।

इन वर्षों में गौरी के विषय में मैं कुछ भी नहीं जान सका—जानने की इच्छा रखते हुए भी नहीं जान सका। ब्याह कर, माँ के शब्दों में मैं 'आदमी' बनने की चेष्टा कर रहा था। एक कालेज में प्रोफेसर की जगह मुझे मिल गई थी और जीवन के दिन अविराम गति से कट रहे थे।

एक दिन जब मैं सिनेमा से लौट रहा था कि एक लड़खड़ाती आवाज आई—"प्रमोद बाबू...?"

मैंने घूमकर देखा, गौरी का पति था!

उसे सिर्फ मैं एक बार अपने गाँव पर देख सका था और कुछ बातें उससे हो सकी थीं; किन्तु क्या उसकी दशा तब ऐसी थीं? मस्तिष्क पर जोर देने के बाद ही मैं उसे पहचान सका।

उसकी आँखें लाल थीं। वह एक फटा ढीला कोट पहने था। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी।

वह एक नर-कंकाल की तरह दीखता था।

उसने हाथ फैलाकर कहा—"कुछ पैसे...?"

उसकी इस बेहयाई पर मुझे काठ मार गया। किन्तु अपने को रोक मैंने पूछा—"गौरी कहाँ है?"

"गौरी?"—वह अट्टहास कर उठा और उसकी विकट हँसी चारों ओर फैल गई।

कुछ क्षणों के बाद वह बोला—"आप गौरी को खोजते हैं? ...वह ऊपर है...।"—कहकर उसने आसमान की ओर उँगली उठाई।

मेरा कलेजा धक् रह गया !

"वह चली गई, बाबू...अच्छा ही हुआ...चुड़ैल से पिंड छूटा...कहती थी, शराब न पीओ, बुरी चीज है...क्यों बाबू, शराब क्या बुरी चीज है ?...कौन कहता है ? कुछ पैसे...।"

घृणा से मेरा रोम-रोम सिहर उठा। किन्तु जाने क्या सोच मैंने जेब से पाँच रुपये का नोट निकालकर उसके आगे फेंक दिया......।

❀ ❀ ❀

और, अभी-अभी, जब मैं घर लौटा हूँ, रात काफी गुजर चुकी है। मेरी पत्नी परीशान है कि मुझे हुआ क्या है ?

वह पूछती है—"क्यों जी, खेल 'ट्रेजडी' था क्या ? सिनेमा से लौटकर तुम तो कभी ऐसे नहीं हुए...आज बात क्या है...?"

मैं डबडबाई आँखों से अपनी पत्नी की ओर देख मुँह फेर लेता हूँ। सोचता हूँ, ये आँसू कहीं भेद न खोल दें !

पासीखाने में

मुर्दे की तरह पीले चेहरेवाले मजदूरों की टोली पासीखाने में बैठी थी। काले-कलूटे, जिनके कपड़े भी फटे और कालिमा से ओत-प्रोत थे, वे मजदूर अपने में भद्दे मज़ाक करते और अपनी कर्कश हँसी से उस दुर्गन्धमय वातावरण को और भी विकृत कर देते थे। बूढ़ा पासी, जिसके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ी थीं, एक कोने में बैठा ऊँघ रहा था और अधेड़ पासिन अपने मोटे ओठों को जो पान से पुते रहते थे, फैला-फैलाकर मुसकराने का प्रयत्न करती थी।

बिल्टू, जो एक आँख का काना था, नशे में मस्त होकर एक राग अलाप रहा था—"राजा रानी ना मारो कलेजवा में तीर हो!" और उसके सहयोगी उसकी इस गान-विद्या की दाद गालियों में दे रहे थे!

दिन-भर के परिश्रम से क्लान्त मजदूर शाम होते ही इस अड्डे की ओर टूट पड़ते हैं। एक-एक मजदूर के चेहरे पर न जाने कितने इतिहास पड़े हैं! उन झुर्रियाँ पड़े मुखों पर कितने अत्याचारों की नग्न कहानियाँ लिखी पड़ी हैं, कौन कह सकता है?

और, ताड़ी का घूँट निगलते वह अधेड़-सा दीख पड़नेवाला व्यक्ति, जो उस मंडली से दूर बैठा कुछ सुलझा-सा रहा है, लोगों के सम्मुख एक पहेली के रूप में है। वह चुपचाप आता है, पीता है और डगमगाते पैरों चला जाता है।

जीवन की खुशियों से दूर-सा, उजड़ा, भग्नप्राय, उलझा हुआ, शुष्क यह जो व्यक्ति है, अपने भीतर एक बवंडर छिपाये है। नशे की खुमारी में वह अपने घाव को भूल जाता है। पीड़ा की एक असह्य यन्त्रणा उसके रग-रग में छुपी बैठी है जो उसके मन-प्राण को अहर्निश क्षण-प्रतिक्षण, जलाती रहती है। वह जला है और जलता रहता है।

यह जलन उसके बीते दिनों की एक ऐसी दर्दनाक घटना है, जिसे जानकर कोई भी सहृदय व्यक्ति उसके साथ सहानुभूति प्रकट कर सकता है।

... ...

मसें भींग रही थीं तब। माँ-बाप ने नाम तो रक्खा था जगरनाथ, किन्तु 'जग्गू' संक्षिप्त-संस्करण के रूप में गाँव-भर में विख्यात था। छाती चौड़ी थी और आँखों की खुमारी दिल तक पहुँच चुकी थी। दिल का पासा भी चल चुका था सोना पर। उसी सोना पर जो सोना की तरह चोख, कमल की तरह खिली, जूही की कली की तरह मस्त और झरने की तरह उन्मुक्त थी, सोना ने भी देखा था, जग्गू उसके हृदय को गुदगुदा जाता है। पानी भरने जब वह चौधरी के कुएँ पर जाती तब जग्गू आँखों में उत्सुकता लिये वहाँ

से निकल जाता। निकल जाता, किन्तु सोना की बड़ी-बड़ी आँखों से आँखें जब टकरातीं तब मानों वे दिल में चुभ ही बैठतीं !

एक दिन डरते-डरते सोना गई थी उस बागीचे में जहाँ जग्गू रखवारी कर रहा था।

"सोना ?" विस्मय में रह गया था जग्गू।

"हाँ, जग्गू।" सोना की लजाई आँखें भूमि चूम रही थीं।

बचपन के खेले-कूदे दिनों की स्मृति दोनों के सामने आ गई थी ; किन्तु यौवन की बाढ़ ने उन दोनों के बीच एक दीवार ला खड़ी कर दी थी। आज फिर सोना को इतने निकट पा जग्गू मानों अपनेको भूल बैठा था।

"तुम्हारे बगीचे में फूल हैं, जग्गू ! आज कथा है मेरे यहाँ।"

मन्त्र-मुग्ध की तरह जग्गू गेंदा, जूही, चमेली के जाने कितने फूल तोड़ लाया था।

"इतने क्या होंगे ? ये तो बहुत हैं... ।"

"पूजा होगी देवता की।"

"तो इतने फूलों की क्या ज़रूरत ?"

"क्यों, देवी की पूजा न होगी ?"

"देवी की ?"

"हाँ, तुम क्या देवी नहीं हो ?"

"धत..." कह लजाते वह चली गई थी।

तब से सोना उसकी आँखों में बस गई थी। जब माँ ने ब्याह

की बात पक्की की, जग्गू ने पैर पटककर कहा था—"मैं सोना से ब्याह करूँगा।"

"सोना से ? कहीं ऐसा भी ब्याह होता है ? वह क्या हमारे जात की लड़की है ?"

"तो और मैं कहीं ब्याह न करूँगा।"

माँ बेटे की यह उद्दण्डता देख चुप रह गई थी ; किन्तु सोना की माँ के निकट जाकर, उसे उलाहना दे, सोना का जल्द ब्याह कर देने की राय वह दे आई। फलतः एक दिन दुपहरी में उदास मुँह किये सोना आई थी और फूट-फूटकर रो पड़ी थी। वह कह रही थी—"मैं और किसी से ब्याह न करूँगी, जग्गू...हम-तुम भाग चलें...मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती।"

और, यह उपाय जग्गू को भी जँचा था। वह रात आज भी जग्गू को स्पष्ट याद है। रात अँधेरी थी। आसमान में काले बादल छाये थे। दिन-भर वर्षा होती रही थी जिससे खेत पानी में डूब गये थे। और, जग्गू सोना का हाथ कसकर पकड़े, रात्रि के सन्नाटे को चीरता हुआ, गाँव की निस्तब्धता के बीच...चला जा रहा था...चला जा रहा था।

... ...

जग्गू शहर आया। कानपुर की एक कपड़े की मिल में उसे जगह मिल गई थी। दिन-भर वह मिहनत करता और शाम को सोना को देखते ही उसके सारे दुःख दूर हो जाते। सोना भी

जग्गू के आने की प्रतीक्षा में रहती और जब वह बाजार से सौदा लिये लौटता, सोना के गोरे गाल और भी खिल उठते थे।

किन्तु, हाय रे! यह सपना क्या अधिक देर तक ठहर सका? मजदूरों में सोना की रूप की चर्चा फैल गई। बात रंगीन तबीअतवाले मिल मैनेजर के पास पहुँची।

"सोना तुम्हारी कौन है?" मैनेजर अपने मुख पर के उठते विकारों को दबाकर बोला।

"सोना?...सोना मेरी घरवाली है, सरकार!" जग्गू का चेहरा घबराहट से भर गया था।

"घरवाली?...झूठा कहीं का!—" वह गुर्राया।

जग्गू पसीने से शराबोर हो गया! लड़खड़ाते स्वर में बोला—"सच कहता हूँ, सरकार! सोना मेरी... !"

"चुप रहो।" कड़ककर मैनेजर बोला—"साफ क्यों नहीं कहते...भगाकर लाया हूँ...अभी पुलिस...।"

जग्गू पर मानों बिजली गिरी; किन्तु साहस बटोरकर बोला—"उसे मैं भगाकर नहीं लाया, सरकार!...वह आप ही मेरे साथ आई है...।"

"बदमाश!"...नाटकीय ढंग से मैनेजर बोला—"तुम सोना को मेरे बँगले पर लाओ। मैं पूछूँगा...।"

उसके बाद की घटना अत्यन्त करुण है। सोना का रूप मैनेजर के सर पेर चढ़ गया था। एक दिन, न जाने कितने जाल-फरेबों के बाद सोना हाथ आ ही गई।

जग्गू को मलेरिया आ रहा था। जब सत्रह-अठारह दिन बीत जाने पर भी ज्वर न छूटा और खाने को घर में कुछ न रह गया, जग्गू ने कहा था—"सोना, मैनेजर हमलोगों को मानता है। जा न, सारा बयानकर कुछ पैसे ले आ...।"

"मैं वहाँ जाना नहीं चाहती...मुँहजला इस तरह देखता है कि...।" सोना सहमकर बोली।

"नहीं जायगी तो क्या आसमान से बरस पड़ेगा?" जग्गू ठीक पथ्य न मिलने के कारण चिड़चिड़ा हो गया था।

सोना चुप रही।

"जा न अभागी...मुझे खाकर ही दम लेगी!" जग्गू क्रोध से हाँफने लगा था।

और, बाद में जो हुआ उसे न कहना ही ठीक है। सोना को कमरे में जब चालाकी से बन्द कर दिया गया तब मैनेजर का पिशाच सामने आ गया।

"बहुत दिन पर तुम हाथ आई"—उसने आगे बढ़कर सोना को बाँहों में लेना चाहा।

हरिणी-सी सोना भय-भीत थी।

"इधर आओ", अपने कठोर स्वर को नम्र करने का असफल प्रयत्न करते हुए पिशाच की आवाज आई।

वह बढ़ता गया।

सोना पीछे हटती गई।

वह हटती गई और वह बढ़ता आया। और अन्त में खिड़की की राह, तीन तल्ले से कूदकर और अपनी जान गँवाकर सोना ने 'सतीत्व', बचा लिया !

... ...

तब से, न जाने, कितने वसन्त निकले, कितने मेघ आये और गये, जग्गू की दुनिया न बदली।

एक-पर-एक वर्ष गुजरते गये और जग्गू शुष्क—निरन्तर शुष्क होता गया।

आज पासीखाना उसके लिये स्वर्ग है, ताड़ी की लबनी में दुनिया की सारी खुशियाँ हैं। वह एक घूँट पीता है...दूसरा घूँट निगलता है...फिर घूँट-पर-घूँट...।

इस एक-एक घूँट में कितना सुख है, कितना विद्रोह है, कितनी जलन है और कितनी निराशा है, यह कौन कह सकता है...?

गंगा के तट पर

और, अब वह गंगा के तट पर खड़ा था।

गंगा की लहरें क्रुद्ध नागिन-सी फुफकार मारती हुई घाट से टकराती और लौट जाती थीं। किसी दुखिया के हाहाकार के सदृश उसकी तरंगों से व्यथा की करुण ध्वनि झंकृत हो उठती थी और गोधूलि की उस उदास वेला में वायु से घुल-मिल न जाने कहाँ अन्तर्हित हो जाती थी। दूर, पश्चिम क्षितिज में चमकता हुआ सूरज डूब रहा था और उसकी लालिमा चारों ओर बिखर गई थी।

सूनी-सूनी आँखों से शेखर स्थिर दृष्टि किये उसी डूबते हुए सूरज की ओर देख रहा था।

शेखर ने फिलासफी कभी नहीं पढ़ी; किसी समय उसे इन दार्शनिकों से सख्त चिढ़ थी और वह उन्हें सृष्टि का शत्रु भी कह दिया करता था; किन्तु आज जीवन और मृत्यु के पलड़े पर आकर वह सचमुच एक सच्चा दार्शनिक बन रहा था।

शेखर सदा से ही अभागा रहा है; अभाव की ज्वाला में वह सदा से जलता आया है। दुनिया में जब उसने अपनेको

समझा, उस समय वह अनाथ था। अपना कहने लायक उस समय उसके पास न कोई आदमी था, न कोई चीज। उसने धीरे-धीरे समझा कि वह जिनके यहाँ आश्रित है, वे उसके पिता के एक बन्धु मात्र हैं। जिस दिन उसके पिता की मृत्यु हुई, उस समय वह मुश्किल से पाँच वर्ष का होगा। माँ की तो उसे याद भी नहीं; सिर्फ माँ की कल्पना की छाया के सिवा कोई स्थूल आकृति उसके सम्मुख है ही नहीं। वह उसी समय मर गई थी जब शेखर को इस संसार में आये सिर्फ डेढ़ मास हुआ था।

और शेखर, तब से अपने आश्रयदाता के यहाँ पल रहा था। वे एक सहृदय एवं धनी व्यक्ति थे और शेखर को पुत्रवत् ही मानते थे। और, जब एक दिन शेखर के हाथ में अपनी एक मात्र संतान कुसुम को रख और यह कहकर कि—"कुसुम का भविष्य अब तुम्हारे हाथ है; इसे तनिक भी आँच न आने देना, बेटा!" वे चल बसे, तो सत्रह साल के शेखर पर ज़िम्मेदारी का पहाड़ टूट पड़ा था।

शेखर ने कुसुम के हृदय को टटोलने पर पाया, जैसे यह दुनिया की एक अर्द्ध विकसित कली है। वह भोली और लजीली कुसुम सचमुच निर्दोष, अबोध और अछूती-सी जान पड़ी।

और, दिन भागे जा रहे थे। यौवन की प्रथम सीढ़ी पर दोनों खड़े थे। शेखर ने कुसुम की ओर देखा। जाने, एक कैसा अपनत्व उसने कुसुम में पाया। कुसुम की माँ ने कहा—"बेटा, कुसुम इतनी बड़ी हो गई, अब उसका ब्याह भी तो होना चाहिये...और तू भी इस साल बी० ए० पास कर गया...अब...।"

शेखर का हृदय धड़कने लगा था। कुसुम की माँ कहती गई—"इसी साल एक अच्छे खानदान का लड़का ढूँढ़ ला। कुसुम का ब्याह तो इसी साल होना चाहिये और मेरे लिये तू भी एक बहू ला...।"

"बहू ?"—शेखर का हृदय बैठ गया था। और शेखर ने सोचा—"ठीक तो। मैं अपने कर्त्तव्य को भूल रहा था।"

किन्तु.........।

उस दिन की बात।

कुसुम खिलती हुई उसके पास आई थी। बोली—"ओ शेखर ?"

शेखर ने उसकी ओर देखा था।

वह बोली—"अच्छा शेखर, आकाश में कितने तारे हैं ?"

"बहुत-से, क्यों, ?"

"फिर भी बोलो, कितने हैं ?"

"पगली कहीं की, उन्हें कोई गिन सकता है ?"

"और चाँद कितने हैं ?"

"चाँद ? आज पागल हो गई क्या ? वह तो हमेशा से एक है।"

"तो इतने तारों को छोड़ लोग चाँद की इतनी तारीफ क्यों करते हैं ?"

"ओ हो ! अब समझा, कविता की पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते स्वयं कवियित्री होती जा रही हो।"

"मज़ाक छोड़ो, बोलो न।"

"बोलूँ क्या ?"

"यही कि चाँद की इतनी तारीफ तुम्हारी कविताओं में क्यों है ?"

"सीधी-सी तो बात है कुसुम...वह सुन्दर है...उसके रूप में प्रकाश है...उसकी ज्योति में शीतलता है...। अच्छा, छोड़ो ये सब बातें—मुझे एक जगह जाना है।"

"मुझे एक बात का जवाब देते जाओ।"

"कौन-सी बात ?"

"तुम असुन्दर को प्यार नहीं करते ?"

"असुन्दर को ?" शेखर खिलखिला पड़ा था—"मैं ही क्यों, असुन्दर को दुनिया नहीं चाहती, कुसुम।"

"यह मेरा अन्तिम प्रश्न है।"—कुसुम की आँखें स्थिर और शान्त थीं—"तुम्हारी दृष्टि में मैं सुन्दर हूँ या असुन्दर ?"

शेखर स्तब्ध रह गया था। उसने काँपते हुए स्वर में कहा था—"तुम...तुम कुसुम ?...मैं नहीं जानता...।" और शेखर लड़खड़ाते पैरों से चल पड़ा था।

उसका हृदय जोरों से धड़क रहा था। वह एक ओर बढ़ता-बढ़ता अब गंगा के तट पर आ पहुँचा था। हृदय का पाप, भावुकता के प्रवाह में, उसे गंगा के तट पर खींच लाया था। सुन्दर और असुन्दर ...। जीवन और मृत्यु—वह इन्हीं की फिलासफी ढूँढ़ने चला आया था।

शेखर चुपचाप गंगा की उठती हुई तरंगों को देख रहा था। किन्तु, धीरे-धीरे अन्धकार घनीभूत हो उठा और उसे लौट आना पड़ा। हृदय की दुर्बलता दबी रह गई।

और शेखर ने सोचा, कहीं यह दुर्बलता प्रज्ज्वलित न हो उठे। वह कुसुम की माँ के निकट जाकर बोला—"माँ, कुसुम के लिये वर ढूँढ़ना होगा न ?"

"हाँ बेटा, कितने दिन हो गये, मैं तुम्हें फिर से याद दिलाने की सोच रही थी।"

शेखर चुप था।

माँ बोलती गई—"पण्डितजी से मालूम हुआ है, कलकत्ते में कुसुम के लायक एक सुन्दर वर हैं। पढ़े-लिखे भी हैं, और सुनती हूँ, कई मिलें उनके यहाँ चलती हैं। अच्छा होता बेटा, यदि वहीं सम्बन्ध ठीक हो जाता। क्यों, तेरी क्या राय है ?"

"ठीक ही तो, माँ।" शेखर ने इस तरह जवाब दिया कि उसे स्वयं ही चौंक जाना पड़ा।

"और तू भी"—माँ कहती गईं—"अब मेरे लिये एक बहू ले आ। तुझे छोड़कर और मेरा है ही कौन ? तू ही तो एक-मात्र सहारा है। तेरी माँ मेरी सबसे अच्छी सखी थी...। बेचारी आज होती...।"

कुसुम की माँ की आँखों में आँसू भर आये।

× × ×

कुसुम का ब्याह कलकत्ते में उसी युवक के साथ हो गया और कुसुम अपने पति-गृह भी चली आई। उसने अपने पति जयन्त को पहचाना। इनका जीवन एक मशीन के समान है।

रात-दिन मिल और रुपये-पैसे की धुन। मानों प्यार, हँसी, खुशी से उनका कोई नाता ही न हो!

कुसुम जैसे निर्जीव हो गई थी।

वह कहती—"चलो न जी, आज थियेटर में मिस मेनका का डान्स है।"

खाते-खाते उसके पति कहते—"आज नहीं, आज शेयर-होल्डरों की मीटिंग है।"

कुसुम स्तब्ध रह जाती इनकी शुष्कता पर। हफ्ते भर के बाद ही तो आज दर्शन हुए और फिर...!

कुसुम कुतूहल-भरे स्वर में कहती—"एक चीज दिखलाऊँ?"

"क्या?"—उसके पति भी जरा उत्सुक हो जाते।

"देखो तो, इस महीने की 'माधुरी' में मेरी एक कविता छपी है।"

"कविता?"—कुसुम के पति दया की हँसी हँसते हुए कहते—"कुसुम, यह दुनिया कहानी और कविता की नहीं है। ये तो आलसी दिमाग की घुड़दौड़ हैं। संसार को इनसे कोई फायदा नहीं।"

"आलसी दिमाग की घुड़दौड़?" कुसुम अवाक् रह जाती। और साथ-ही-साथ उसकी आँखों के आगे शेखर आ खड़ा होता। मुस्कुराता...आँखों में प्यार का स्रोत लिये...वह दुबला-पतला शेखर तस्वीर की तरह सामने आ जाता।

और फिर...।

उस दिन की बात कुसुम सोचती है, जिस दिन वह शेखर से विदा ले रही थी...उसकी वह उदास मुखाकृति...आँखों का

सूनापन...और खोये-खोये-से मन को देखकर कुसुम का कवि-हृदय कराह उठा था।...किन्तु वह कर ही क्या सकती थी ?... उसमें इतना साहस कैसे आ जाता ?...आह...फिर भी शेखर की स्मृति भुलाये नहीं भूलती !

× × ×

और, शेखर भी कुसुम के उस रूप को भूलना ही चाहता है। उसने समझा कि अब वह एक भारी ज़िम्मेदारी से छुट्टी पा गया है। किन्तु उसके हृदय के किसी कोने में अब भी वह सारा प्यार दबा बैठा है...वह भोली और लज्जा की प्रतिमा हटाये नहीं हटती।

असहयोग का बिगुल बजा और उसके साथ-साथ शेखर को मानों एक अवलम्ब मिल गया। प्रेमी के हृदय में तो सिर्फ़ प्यार ही रहता है और शेखर-से भावुक के हृदय में यदि देश-प्रेम की आग सुलग उठी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

उसके जेल जाने के समय कुसुम की माँ ने रुँधे गले से कहा—"कुसुम गई और अब तू भी चला बेटा...इतनी बड़ी जमींदारी का प्रबन्ध क्या मुझसे हो सकेगा ?...अब इस बुढ़ापे में, जब मैं काशीवास करना चाहती थी और तेरी बहू का मुख देखकर मरना चाहती थी, क्या यही बदा था ?"...कुसुम की माँ कहती गई—"मैं कैसे जानूँ बेटा कि तू इतना क्यों कुम्हला गया है ? कुसुम के ब्याह के बाद जाने कहाँ-कहाँ घूमता रहा। और जब यहाँ आये तुम्हें चार-पाँच रोज भी न हुए, तू जेल चला

गया। दुनिया में मेरा और है ही कौन? मैंने क्या सपने में भी तुझे पराये पेट का समझा...?"

"ओ माँ...!" शेखर की आँखें भर रही थीं।

"तू माँ के दिल को नहीं समझता, शेखर!...मैंने एक बार सोचा था कि कुसुम के साथ तेरा ब्याह कर दूँ—बड़ी अच्छी बात होगी—किंतु लोक-भय ने ऐसा करने से मुझे रोक लिया। परन्तु अब मैं समझने लगी हूँ, मैंने ऐसा करके अच्छा नहीं किया।"

शेखर चुप था।

× × ×

कुसुम ने सुना—उसका शेखर असहयोग में वन्दी बनकर दो वर्ष की सजा काट रहा है।

वह सावन की एक सन्ध्या थी। आकाश में कजरारे मेघ लोट रहे थे और नन्हीं-नन्हीं बूँदें मोती-सी बरस पड़ती थीं। चारों ओर कुछ खोया-सा सूनापन लिए, वायु बिखर गई थी।

कुसुम शेखर के सामने खड़ी थी। जेल की पत्थर की दीवारें मानों कोई भयंकर कठोरता का इतिहास लिये उसके चारों ओर घिरी थीं।

पीली और मुरझाई कुसुम शेखर के सामने खड़ी थी और शेखर की चिरपरिचित मुसकान ओठों से ग़ायब थी।

शेखर बोला—"कुसुम, तू कितनी पीली पड़ गई है!"

किन्तु, कुसुम को अपने पीलेपन का ध्यान न था। वह शेखर

के मुख के उठते और गिरते हुए मनोविज्ञान को पढ़ने का प्रयत्न कर रही थी।

"हाँ, शेखर...।"—कुसुम का टूटा हुआ स्वर निकल पड़ा था।

"तू सुखी है न, कुसुम ?"

कुसुम ने सूनी आँखों को उत्तर में उठा दिया था।

× × ×

सावन आया, बीत गया। वसन्त आया, चला गया। और आज फिर इस पतझड़ में शेखर जेल से छूटा था।

घर आने पर मालूम हुआ, दो महीने पहले ही कुसुम की माँ सारी वसीयत शेखर के नाम लिख काशीवास करने चली गई हैं। कुछ लोगों ने यह भी बतलाया, कुसुम क्षय-रोग से पीड़ित थी; वह उसीको देखने कलकत्ते गई है।

वह कुसुम के पति जयन्त से मिलने कलकत्ते आया था। साधारण स्वर में जयन्त ने उत्तर दिया—"उन्हें टी० बी० हो गया था। सेनिटोरियम ले जाने पर भी वह बचाई न जा सकीं। आज उनके गुज़रे २०-२५ रोज हो रहे हैं।"

"कुसुम ?...कुसुम मर गई ?" शेखर जैसे आकाश से गिर पड़ा था !

× × ×

और, आज फिर एकान्त की तलाश में शेखर गंगा के तट पर खड़ा था।

उस दिन की गंगा में आज की गंगा से कुछ भी भेद न था। हाँ, पतझड़ के कारण गंगा की लहरों का उच्छ्वास और भी तीव्र हो उठा था। मटमैले रंग की डूबती हुई किरणें गंगा की तरंगों पर नाच रही थीं; और शेखर अपनी सूनी-सूनी आँखों से, अपने चारों ओर के सूनेपन को अन्यमनस्क-सा देख रहा था।

जीवन की 'ट्रेजेडी'

उस रात, जब आखिर में शङ्कर की माँ ने दुनिया से नाता तोड़ लिया, तब शङ्कर के लिये जैसे दुनिया खाली हो गई! वह नहीं समझ सका कि उसकी स्नेहमयी जननी उसे इस रूप में छोड़ क्यों चली गई? क्रूर चिता धू-धू कर जल रही थी और उसपर उसकी स्नेहमयी जननी का शव राख होता जा रहा था। गम्भीर दार्शनिक की भाँति शङ्कर ने सोचा—जीवन के नाटक का क्या यही अन्त है? मनुष्य में इतनी ममता और कातरता रहती क्यों है? और इस नारी-हृदय को टटोलने पर वह पाता है, जैसे यह अनादि और अनन्त है! शङ्कर को यह एक पहेली-सा लगा; लगा, जैसे यह जाल इतना उलझा हुआ है कि सुलझाये नहीं सुलझ सकता।

उसकी आँखों में आँसू न थे; स्थिर और सूनी आँखों से शङ्कर माँ की चिता की ओर देख रहा था। उसका उठता हुआ धुआँ गोलाकार होकर शून्य में उड़ा जा रहा था। रात का अन्तिम पहर बीत रहा था और प्रभात की धुँधली छाया आकाश पर बिखरी पड़ी थी।

श्मशान से जब वह घर लौटा, उस समय दिन निकल आया था और शहर का शोर-गुल शुरू हो गया था। किवाड़ बन्दकर वह कटे वृक्ष-सा अपनी खाट पर गिर पड़ा। उसे नींद आ गई और उसने सपने में देखा—उसकी स्नेहमयी जननी उसे अपने पास बुला रही है और कह रही है—"आ जा बेटा, तू मेरी आँखों से ओट रहकर किस तरह रह सकेगा?"

और, शङ्कर भी अपने दोनों हाथों को फैलाते हुए कह रहा है—"माँ, ओ माँ......मैं तुम्हारे पास ही आऊँगा......मेरा मन यहाँ नहीं लगता......।"

नींद उचट गई और साथ ही सपना भी टूट गया। उसने देखा—घर सूना पड़ा है और उसका सूनापन मनहूस-सा चारों ओर छा रहा है। यह भयानक उदासीनता हवा में मिल गई है। वह उठ बैठा और अपनी डबडबाई आँखों से फुटपाथ पर गमनागमन करते हुए जन-समूह को देखने लगा।

(२)

तीन महीने बाद शङ्कर अपने सूने घर में एक दुलहिन ले आया। सुमित्रा ने आकर देखा, चीजें अस्त-व्यस्त पड़ी हैं और उदासीनता का साम्राज्य उस छोटे-से घर में विस्तृत रूप से फैला है।

शङ्कर बोला—"सुमित्रा, पहले माँ थीं, इसलिये निश्चिन्त था, किन्तु उनके मरने के बाद मैं स्वयं सूना हो गया था। अब इसका सँभालना तुम्हारे ज़िम्मे है, सुमित्रा।"

सुमित्रा ने विस्फारित नेत्रों से अपने पति की ओर देखा और उस एक ही दृष्टि में उसने अपने पति को पहचान लिया।

शाम को शङ्कर जब आफिस से लौटा तब कमरे की सजावट देख खिल उठा। सुमित्रा के पास जाकर वह बोला—"सुमित्रा, तुम कितनी अच्छी हो।"

रोटी उलटते हुए सुमित्रा का मुख अग्नि के प्रकाश में और भी दीप्त हो उठा।

दिन बीत रहे थे; शङ्कर खुश था कि उसने एक अभाव की पूर्ति कर ली है।

एक दिन शङ्कर बोला—"सुमित्रा...?"

सुमित्रा ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को और भी फैला दिया।

"सुमित्रा, यह मेरे किसी जन्म का पुण्य है या माँ का आशीर्वाद ?"

"कौन सी चीज ?" सुमित्रा न समझ सकी।

"नहीं समझी ? मैंने जो तुम्हें पाया...?"

सुमित्रा का चेहरा लाल हो उठा।

शङ्कर बोलता गया—"मैं तो इसे माँ का आशीर्वाद ही समझता हूँ...मैं क्या ऐसी पत्नी पा सकता ?"

"रहने भी दीजिये...," सुमित्रा ने बीच में ही रोककर कहा।

कुछ क्षणों के बाद शङ्कर फिर बोला—"एक बात कहूँ सुमित्रा ?"

सुमित्रा ने सिर उठाया।

"इस बार पूजा की छुट्टी में हमलोग घूम आयें।"

"क्यों?" सुमित्रा जरा चौंकी।

"यों ही...तुम्हारा मन नहीं लगता होगा...इसलिये सोचता हूँ कि...।"

"किन्तु...।" सुमित्रा ने टोका।

"अरे...मैं समझ गया"—शङ्कर मुस्कुराकर बोला—"तुम रुपये की बात सोच रही हो न?"

सुमित्रा चुप रही।

"इस तरह की कंजूसी करने से कहीं काम चलता है? मेरे पास इस मास के वेतन में से २५) बच रहे हैं और २०) पहले के हैं। इन रुपयों से नजदीक का कोई प्रसिद्ध शहर मजे में देखा जा सकता है। हाँ, याद आया। तुम्हींने तो एक दिन कहा था—प्रयाग मैं नहीं गई हूँ...इसलिये वहीं चलो...।"

प्रायः एक सप्ताह के बाद जब वे लौटकर घर आये, शङ्कर बोला—"सुमित्रा, मेरे पेट में बड़ा दर्द हो रहा है।"

कराहते हुए शङ्कर बिछावन पर लेट रहा। सुमित्रा को जैसे काठ मार गया। शङ्कर की देह बुखार से जली जा रही थी। रात-भर वह बदहवासी में जाने क्या-क्या बकता रहा, और शङ्कर के सिरहाने सुमित्रा रात-भर जगी रह गई।

इस तरह नौ दिन बीत गये। घर में जो जमा-पूँजी थी वह डाक्टर की फीस और दवादारू में खर्च हो गई, किन्तु ज्वर न उतरा।

सुमित्रा जैसे पागल बन गई थी। उसने देवी-देवताओं की मन्नतें मानीं। आस-पास के पड़ोसियों से यंत्र और जाने क्या-क्या चीजें ले आई। उसका फूल-सा चेहरा कुम्हलाया हुआ था। अनवरत परिश्रम से मुख शुष्क हो चला था, आखें सूज आई थीं।

वह भगवान की तस्वीर के नीचे घुटने टेक, आँचल फैलाकर बोली—"मेरे सुहाग को रहने दो नाथ!"

अब डाक्टर को देने और दवा मँगाने के लिये उसके पास कुछ भी न बचा था। थीं सिर्फ हाथ में सोने की चार चूड़ियाँ।

उन्हें देते हुए वह नौकरानी से बोली—"इन्हें बेचकर रुपये ला दो, रज्जू की माँ।"

बूढ़ी नौकरानी ने सहमते हुए कहा—"बहू, यह तो सुहाग की चीज है। इन्हें न बेचो।"

स्थिर कण्ठ से सुमित्रा बोली—"जब मेरा सुहाग ही लुट जायगा तब ये किस काम आयेंगी, रज्जू की माँ।"

और, सचमुच अपनी सुहाग की चूड़ियों को बेच सुमित्रा ने अपने सुहाग को बचा लिया। शङ्कर धीरे-धीरे स्वस्थ होता गया और एक दिन उसने प्यार-भरी आँखों से सुमित्रा की ओर देखकर कहा—"सुमित्रा...।"

सुमित्रा कमीज में बटन लगा रही थी। तागे को दाँतों से कुतरते हुए प्रफुल्ल चेहरे से उसने अपने पति की ओर देखा।

"तुमने मुझे बचा लिया, सुमित्रा।"

सुमित्रा की आँखें लाज से झुक गईं।

"तभी तो मैंने कहा था, मेरी सुमित्रा मेरी माँ का आशीर्वाद है।"

किन्तु, सुख-दुख की आँख-मिचौनी में पर्दा 'ट्रेजेडी' पर ही गिरता है। पति को बचाकर सुमित्रा कुछ दिनों के बाद स्वयं पड़ गई। क्षयरोग से वह घुलने लगी और इसका आभास शङ्कर को तब हुआ, जब एक दिन सुमित्रा ने कुल्ली करते समय बहुत-सा खून अपने मुँह से गिरा दिया।

और उसी दिन सुमित्रा को खाट पकड़नी पड़ी। जीवन की 'ट्रेजेडी' शुरू हुई और एक नूतन अध्याय का प्रारम्भ हुआ। शङ्कर ने सब देखा और समझा भी। उसे लगा, जैसे वह अपने प्रति अन्याय कर बैठा है। सुमित्रा के मुँह से गिरे हुए खून को देखकर शङ्कर ने सोचा, अपनेको बचाकर उसने अच्छा नहीं किया। अब वह अपनी आत्मा को खो रहा है।

दिन तेजी से आते; रातें तूफान बिखेर जातीं। रात्रि के द्वितीय प्रहर में सुमित्रा के मुँह से उस रात फिर बहुत-सा खून गिरा।

शङ्कर चिल्ला उठा—"सुमित्रा...ओ सुमित्रा ?"

"तुम डर गये ?" किंचित् वेदना-भरी मुस्कान उसके क्षीण अधरों पर दौड़ गई।

शङ्कर की आँखें डबडबा रही थीं। रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुमित्रा के जीवन-नाटक का अन्तिम पर्दा गिर गया।

शङ्कर उसके वक्षःस्थल पर सिर रखकर लोट-लोट कर रो रहा था।

सुमित्रा की चिता जल रही थी। जल रही थी वही भोली-भाली और सुन्दर सुमित्रा। शङ्कर सूनी-सूनी आँखों से सुमित्रा के जलते हुए शव को देख रहा था। चिता का प्रतिविम्ब सामने की गंगा में झलमला रहा था...और...?

... ...

वह अभागा शङ्कर !

द्वितीया

चिता से जो धुँआ निकल रहा था, उमाकान्त उसे सूनी-सूनी आँखों से देख रहा था। उसके मुख का मनोविज्ञान यह साफ प्रकट कर रहा था कि उसे किसी गहरी व्यथा का सामना करना पड़ रहा है। नदी का जल दोपहर की धूप में चमक रहा था और चिता की लपटें रह-रहकर भभक उठती थीं। उमाकान्त मुरझाये चेहरे से अपने जीवन की इस ट्रेजेडी को सुलझा रहा था, जो एकाएक, अनजाने, उसपर आ पड़ी थी। यमुना ने क्यों उसके प्राणों में यह सुर भर दिया था? अभी-अभी तो वह सँभल ही पाया था कि निर्मोही यमुना इस तरह उसे धोखा दे चल बसी!

शहनाई की वह करुण स्वर-लहरी जैसे आज भी उमाकान्त के आगे बिखर पड़ती है। पाँच वर्ष पूर्व की वह धुँधली तस्वीर। यमुना की आँखों को पढ़कर उमाकान्त जैसे निहाल हो गया था! उसके गोरे-गोरे हाथों में मेंहदी की छाप कैसी शोभा बटोर लाई थी! वह यमुना सचमुच उसके जीवन में वरदान की देवी-सी उतर आई थी। आज वही यमुना सुहागिन के वेष में, पाँच वर्षों के बाद चिता पर जल रही थी!

"यमुना ऐसी क्यों हो गई ?" उमाकान्त मन-ही-मन बुदबुदाता—"वह क्यों ऐसी कठोर निकली ? उसने मुझे इस तरह क्यों धोखा दिया ?"

हल्की-सी एक उसास उमाकान्त के मुँह से निकल गई ।

"क्या सोच रहे हो, उमा ?"

"कुछ भी नहीं भैया ।"—एक बन्धु के प्रश्न का उत्तर उसने हल्के स्वर में दिया ।

"देखो उमा, जीवन का अर्थ भी तो यही है । इसके लिये तुम कुछ भी चिन्ता न करो......मनुष्य जीने के लिये मरता है और मरने के लिये जीता है उमा,.........सृष्टि की यही विचित्रता है; फिलासफी की यही सीढ़ी है ।"

उमाकान्त सुन रहा था । कुछ दूर हटकर उसके सगे-सम्बन्धी और पिताजी थे । उमाकान्त एकटक चिता की ओर देख रहा था । जाने एक कैसा सूना-सूना-सा अभाव उसके हृदय में घर कर गया था ।

... ...

उमाकान्त पुस्तक पर आँखें गड़ाये अन्यमनस्क-सा कुछ सोच रहा था । वह चाहता था, यमुना की मूर्त्ति उसके हृदय में न आये । किन्तु वह हर बार असफल हो रहा था । यमुना के मरे आज डेढ़ महीने से अधिक हो रहे हैं, किन्तु एक क्षण भी वह उसे न भूल पाया है ।

"यमुना क्यों उसके हृदय में इतना प्यार उड़ेल गई ?" उमाकान्त रह-रहकर यही सोच उठता। एम० ए० की तैयारी; और अब दिन बहुत ही नजदीक हैं। किन्तु वह कहाँ ठीक से पढ़ पाया है ? किताबों की आलमारियों पर धूल जम गई है; कैलेंडर के पन्ने फाड़े नहीं गये हैं; और यमुना के हाथों से पानी न पड़ने के कारण गमले के पत्ते झर गये हैं। चारों ओर एक उदासीनता है; एक अजीब सूनापन है।

सामने यमुना की तस्वीर है। नववधू के वेष में यमुना मुस्कुरा रही है; उसकी आँखें लाज से भरी हैं। कपोलों पर लाली कुछ निखर आई है। और, माथे पर संकोच की रेखाएँ हैं। इस चित्र को उमाकान्त ने अपने कैमरे से खींचा था। कितनी मिन्नतों के बाद यमुना राजी हुई थी। और आज, वही यमुना की तस्वीर उमाकान्त के हृदय में एक व्यथा जगा रही है !

... ...

उमाकान्त इस बार परीक्षा न दे सका। उसकी तबीअत खराब हो गई और उसके अच्छे होने में काफी दिन लग गये। अब कुछ-कुछ वह यमुना को भुला पाया था। फिलासफी की धाराओं और राजनीतिक पुस्तकों के दाव-पेंच में उसने अपने को छिपा रक्खा था।

हठात् एक दिन उमाकान्त को मालूम हुआ, उसकी दूसरी शादी होनेवाली है। उसे रोमांच हो आया। उससे यह अन्याय

क्या सहा जायगा ? पुराना घाव उभर आया। यमुना की मूर्त्ति धीरे-धीरे स्पष्ट होती गई।

उसने जी कड़ा कर कहा—"मैं शादी न करूँगा।"

माँ ने आँचल से आँसू पोंछते हुए कहा—"उमा, इससे अच्छा होता, तू मुझे ही मार डालता...मैं यह सब कैसे देख सकती हूँ बेटा...?"

"किन्तु माँ, मुझे तो रुलाई आती है।"

"छिः, बेटा ! तुम पुरुष होकर इस तरह हिम्मत हारते हो ? वंश की मर्यादा का खयाल तो तुम्हें करना चाहिये...?"

और, इतने में पिता की कर्कश वाणी सुन पड़ी—"सुनो उमा, तुम्हें शादी करनी ही पड़ेगी...मैंने सारी बातें तय कर ली हैं... क्या तुम मेरी इज्जत मिट्टी में मिलाओगे ?"

... ...

उमाकान्त का लजीला हृदय भीतर-ही-भीतर कराहकर रह गया।

नई बहू आई। चाँद-सी सुन्दर, गुलाब-सी खिली ! किन्तु उसकी आँखें ? उफ ! ये तो ठीक यमुना-जैसी हैं; वैसी ही बड़ी, शान्त, उदार, पवित्र। एक बार पुनः उमाकान्त को यमुना की याद आ गई।

"चन्द्रा, यमुना की आँखें ठीक तुम्हारी ही जैसी थीं।"

चन्द्रावती स्तब्ध रह गई। यमुना का इतिहास उसे मालूम था, इसलिये बात समझ गई।

"चन्द्रा, मैं तुम्हें क्या प्यार कर सकूँगा? जी तो चाहता है चन्द्रा......किन्तु।"

चन्द्रा का हृदय काँपने लगा था।

"यमुना मेरे हृदय से कहाँ दूर जा पाती है चन्द्रा......किन्तु इससे तुम यह न समझना कि मैं तुमसे घृणा करता हूँ...।"

चन्द्रा का हृदय तड़प उठा। हृदय में एक तूफान आया; मानों वह कहना चाहती हो—"तब तुमने मुझसे ब्याह क्यों किया? क्यों तुमने मेरे हृदय में हाहाकार भर दिया? मैं गरीब हूँ न...... मेरे पिताजी के पास पैसे नहीं थे न......इसीलिये शायद तुमने मुझपर दया की? किन्तु मैं पूछती हूँ, हृदय क्या इतना सस्ता है? तुम्हें यदि मारना ही है तो इस तरह निर्दय होकर तड़पा-तड़पाकर मारने में तुम्हें क्या मजा मिलता है?"

चन्द्रा का विक्षुब्ध मन विद्रोह कर उठा।

... ...

कई महीने खिसक गये।

चन्द्रा अपने पति से प्यार का एक कण भी न पा सकी। उसके पतिदेव उससे बोलते कम, और जब मिलते, आँखें बचाकर जल्दी निकल भागते।

चन्द्रा अपने भाग्य पर सिसक उठती। यमुना के फोटो की ओर देखती हुई वह रुँधे गले से कहती—"बहन, क्या तुम भी मेरी उपेक्षा करती हो? मुझे विश्वास नहीं होता।"

चन्द्रा पीली पड़ती जा रही थी। पांडु-रोग से ग्रस्त चन्द्रा का नारी-हृदय दिन-दिन जर्जर होता जा रहा था। किन्तु किसीको इसकी खबर न थी और न चन्द्रा ही इसे प्रकट करती थी। इधर उसकी दशा और भी बिगड़ गई थी।

उमाकान्त आज चार महीनों से बाहर था। अपनी स्मृति को दबाये रखने के लिये वह चन्द्रा की उन आँखों से बचना चाहता था, जिनमें यमुना की मूर्त्ति झाँक उठती थी। यदि चन्द्रा की आँखें ऐसी न होतीं तो बहुत सम्भव था, वह यमुना को भूल जा सकता था, किन्तु उसका दुर्भाग्य !

और, इन चार महीनों से मसूरी में अपने मामा के यहाँ रहकर वह अपना स्वास्थ्य सुधार रहा था !

... ...

अभी-अभी उमाकान्त ने एक मधुर स्वप्न देखा था। रात का वह अन्तिम प्रहर था और उस मीठे सपने में यमुना एक सन्देश लिये आई थी। उसने उसे चेतावनी देते हुए कहा था—"देखो जी, चन्द्रा को ठुकराकर तुम मेरा अपमान कर रहे हो......तुमने चन्द्रा को समझने में भूल की है...मेरी आत्मा तभी सुखी होगी जब तुम चन्द्रा को अपनाओगे। बोलो, वचन देते हो न...?"

"हाँ, यमुना..."–कह खुशी में वह चिल्ला उठा था। इसके साथ-ही-साथ उसकी नींद टूट गई थी। नींद टूटने पर उसने देखा, सुबह का सूरज अपनी किरणें उसके कमरे में बिखेर रहा था, और

इसके साथ ही कोई दरवाजा खटखटा रहा था—"उमा...अजी, ओ उमा,...किवाड़ खोलो...।"

उमाकान्त ने बाहर आकर देखा, उसके मामा खड़े थे और उनके हाथ में तार का एक लिफाफा था। उसे बढ़ाते हुए वे बोले—"तुम्हारे नाम से अभी-अभी एक तार आया है। देखो तो, क्या है?"

जाने क्यों उमाकान्त का हाथ काँप उठा। लिफाफा खोलकर उसने पढ़ा। उसमें अँगरेजी की दो लाइनें लिखी थीं, जिनका अर्थ था—"आज, ११ बजे रात को, चन्द्रा की हृदयगति बन्द हो गई। शीघ्र आओ।"

उमाकान्त जैसे जड़ हो गया। लड़खड़ाते स्वर में वह आप-ही-आप बुदबुदाया—"तुम भी रूठ गई चन्द्रा!"

जीवन का रोमांस

हारा-थका-सा, किसी क्लान्त पंछी की तरह जिसके डैने थक गये हों, जीवन डाक्टर के साथ आकर खड़ा हो गया। निराशा उसकी आँखों से झाँक रही थी और उतरा चेहरा ही किसी अमंगल की सूचना दे रहा था।

रुग्ण गीता बिछावन पर लेटी थी; शरीर पांडु रंग का हो गया था और उसकी आँखों का सूनापन यह स्पष्ट प्रकट कर रहा था कि यह सुबह का बुझता हुआ चिराग है। कुछ स्मृतियों के बादल उसके मानस में उठ रहे थे और कुछ विलीन हो रहे थे। आज गीता के आगे यथार्थ की दुनिया है, पति की बेकारी है और सबसे स्पष्ट अपना अन्त है—अपने जीवन-नाटक का अन्तिम दृश्य है।

सारा घर मानो उदासीनता से भर गया है। एक अजीब सूनापन चारों ओर छाया है। दीवाल पर एक ओर गान्धी जी की तस्वीर टँगी है और दूसरी ओर किसी बीमा कम्पनी का कैलेंडर है। गान्धी जी की तस्वीर पर धूल जमी है और कैलेंडर का रंग उड़ गया है।

जीवन के पिता थे क्लर्क और क्लर्क की तरह ही कंगाल। फलतः जब वे मरे तब जीवन ने पाया, माँ के कुछ गहने और इस भग्नप्राय: घर के सिवा वे कुछ भी नहीं छोड़ गये हैं। सेविंग-बैंक में कुछ रुपये थे जरूर, किन्तु वे उनके ही क्रिया-कर्म में समाप्त हो गये।

रोमांस की दुनिया में भटकनेवाला जीवन तब क्या समझ पाया था? अपनी कल्पना को वह उस दुनिया में ले जाता जहाँ फूलों का राज्य है, वेदनाओं का सागर है, मधु के प्याले हैं और जहाँ से निरन्तर, अविराम, किसी अप्सरा की नूपुर-ध्वनि आती है...।

और इसी रोमांस की दुनिया में तो उसने गीता को पाया था......आज भी वे दिन इस नव-दंपति के अधरों पर एक म्लान मुस्कान ला देते हैं......।

एक अलसाया प्रात। गीता को उसने उस अवस्था में पहली बार देखा था जब वह किशोरावस्था में कदम रख रही थी।

अपनी चाची के पास जाकर उसने पूछा था—"यह लड़की कौन है, बड़ी माँ?"

"एक अनाथ है, बेटा", बड़ी माँ ने रुककर कहा—"इसके पिता तब ही मर गये जब यह छोटी थी, और माँ भी पार साल चली गई। वह मेरी सखी थी; उसकी आखिरी चाह थी कि मैं इसे अपने यहाँ रख लूँ।"

गीता किवाड़ के पल्ले के सहारे छिपकर सुन रही थी; उसने देखा था, जीवन का चेहरा कितना फीका पड़ गया है!

कुछ घंटे बाद जीवन ने आकर पूछा था—"क्या नाम है, तेरा ?"

गीता लजा गई थी। चुप रही।

"बोलती क्यों नहीं ? बड़ी लजीली लड़की है तू।"

गीता का चेहरा और भी लाल हो उठा था।

"नहीं बोलेगी ?"

"गीता..." आहिस्ते उसका स्वर निकला था।

जीवन ने पूछा था—" कैरम खेलना जानती है ?"

गीता ने सिर हिलाकर उत्तर दिया—"नहीं।"

"लूडो ?"

फिर 'नहीं' का सिर हिला।

"ताश ?"

गीता चुप की चुप रही।

"तो तू जानती क्या है ?" खीभकर जीवन ने कहा था।

"कुछ भी नहीं !" कहकर गीता भाग गई थी।

और, 'इस कुछ भी नहीं' जाननेवाली लड़की पर न जाने क्यों जीवन रीभ गया था। उसका भोलापन, उसकी बड़ी-बड़ी आँखों के बीच विस्मय की छाया, और अन्त में लज्जा से दबा स्वर 'कुछ भी नहीं' जाने क्यों जीवन को बड़ा अच्छा लगा था !

जीवन जब घर लौट रहा था तब गीता कितनी रोई थी !

जीवन ने पूछा था—"चिट्ठी लिखेगी गीता ?"

अपने उमड़ते आँसुओं को न रोक सकने के कारण गीता फफक-फफक कर रो पड़ी थी। यह जीवन उसे बड़ा प्यारा लगा था और यह जुदाई बड़ी बुरी लग रही थी।

"फिर कब आओगे ?"

"पूजा की छुट्टी में।"

"आओगे न ?"

"हाँ गीता।"

"चिट्ठी लिखोगे न ?"

जीवन ने सिर हिलाकर स्वीकृति जनाई थी।

और, जब जीवन चला गया था, गीता का जी सदा उचटा रहता था। माँ (अपनी माँ की सखी को वह इसी नाम से पुकारती थी) ने उसकी दशा देख कर कहा था—"कैसी पागल है! जुदाई मैंने भी देखी है, किन्तु इस लड़की ने तो तूफान मचा दिया है।"

कुछ दिनों बाद, जीवन का एक कार्ड मिला था। उसने लिखा था—"गीता, मेरा जी यहाँ नहीं लगता। तेरी बड़ी याद आती है। तू कैसी है, लिखना। वह तोता जिसे हम दोनोंने मिलकर खरीदा था, पढ़ता है या नहीं ? तूने रूमाल पर मेरे नाम के फूल काढ़े हैं या नहीं ? मैं पूजा की छुट्टी में आऊँगा।"

गीता ने टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में जवाब लिखा था—"जीवन, तुम जरूर आओ। मैं तुम्हें रोज सपने में देखती हूँ। तुम्हारा तोता

नहीं पढ़ता है। वह भी उदास है। तुम्हारे लिये रूमाल पर फूल बना रही हूँ। पूजा की छुट्टी में जरूर जरूर आना।"

और इस तरह बचपन की यह कहानी रोमांस से शुरू हुई थी।

फिर दिन बीतते गये, रातें गुजरती गईं, फूल खिलते रहे, वसन्त आता रहा और तब वे उस अवस्था में पहुँचे थे जो मनुष्य के जीवन में एक तूफान लिए आती है!

बहुत दिन बीत गये थे। गीता की कोई खबर जीवन को मालूम न थी और न गीता ही कुछ जान पाई थी। यौवन का पर्दा पड़ गया था और संकोच की रेखाओं ने एक दीवाल ला खड़ी की थी।

तरुण जीवन रंगीन दुनिया में विचर रहा था। अपनी कहानियों में, अपनी कविताओं में वह गीता का चित्र खींचता और वे चित्र इसलिये मानो बोल-से उठते।

और गीता, आकाश के असंख्य फैले तारात्रों की ओर देखती। वह देखती, दूर जो नक्षत्र चमक रहा है, उसमें उसके जीवन की मुस्कान का कितना सुन्दर आभास है!

अन्त में जी कड़ाकर, आँसुओं को रोक, उसने कालेज के पते से जीवन के पास एक चिट्ठी भेजी थी :—

"तुम मुझे क्या सचमुच ठुकरा दोगे? तुम इस तरह मुझे क्यों भूल बैठे हो? यहाँ माँ ने मेरा ब्याह ठीक कर लिया है। जीवन, मैं क्या यह दुबारा लिखूँ कि मेरे लिये तुम्हीं सब हो? मैं धन नहीं चाहती, प्रतिष्ठा नहीं चाहती, सुख नहीं चाहती...चाहती

हूँ तुम्हें...सिर्फ तुम्हें...अगर ठुकराओगे तो दो बूँद आँसू गिराकर गंगा के जल में समा जाऊँगी।"

पत्र पढ़कर जीवन की आँखें भर आई थीं और तब पिता के पास जाकर उसने कहा था—"मैं गीता से ब्याह करूँगा।"

"क्या?" पिता के हाथ से अखबार छूट पड़ा था।

"मैं कहने आया हूँ कि गीता से ही मेरा ब्याह हो सकता है। नहीं तो मैं जन्म-भर अविवाहित रहने को तैयार हूँ...।"

और, तब जीवन के पिता परिस्थिति समझ गये थे। एक बार फिर रोमांस की गाड़ी मुड़ी और गीता जीवन की पत्नी थी।

"सचमुच तुम गंगा के जल में समाना चाहती थीं, गीता?" जीवन ने मुस्कराकर पूछा था।

गीता के कपोल लाज से रँग गये थे।

"गीता, हमलोग कितने सुखी हैं!"

"संसार में सबसे अधिक!" गीता आँखें बन्दकर धीमे स्वर में बुदबुदाई थी, मानों यह आनन्द वह खोना नहीं चाहती!

× × ×

और, आज रोमांस का अन्त हो रहा था।

"डाक्टर साहब?" भर्राये गले से जीवन बोला।

डाक्टर अपना बेग उठाकर चलते हुए बोला—"मुझे दुःख है, जीवन बाबू।"

और, जब डाक्टर चला गया, गीता ने इशारे से जीवन को बुलाया।

वह मुस्कराई। पीले रक्तहीन चेहरे और धँसी आँखों में जाने कहाँ से शक्ति आ गई; शायद ऐसी शक्ति जो बुझने के पहले एक बार भभक उठती है।

"डाक्टरों को बुलाकर पैसे क्यों बरबाद कर रहे हो? मैं क्या अब बचूँगी?"

जीवन का चेहरा और भी उतर गया।

"जरा खिड़की खोल दो। सूरज डूब रहा है न?"

जीवन ने काँपते हाथों से खिड़की खोल दी। कुछ धूमिल किरणें कमरे में आ पड़ीं।

"क्यों जी, तुम इतने उदास क्यों हो? मैं नहीं रहूँगी इसलिये?"

और, गीता को खाँसी आ गई। खाँसते हुए वह बोली--"मेरी तपस्या तो पूरी हो गई। मैंने तुम्हें पाया, यही बहुत है।" साथ-साथ खून का एक कुल्ला आया और चादर को लाल कर गया।

× × ×

रोमांस के अन्त के साथ-साथ उधर पश्चिम के आकाश में म्लान और थका सूरज डूब रहा था!

गुलाब

जिस दिन यदुवंश बाबू के यहाँ लड़का पैदा हुआ, गुलाब को मानों वरदान मिल गया। खुशी के मारे उसके पैर जमीन पर न थे। उस दिन उसमें एक नई स्फूर्त्ति दीख पड़ी, जिसे देखकर घर के लोग कुछ चकित रह गये। आज दस वर्षों के बाद लोगों ने उसके चेहरे पर ताजगी देखी। इसके पहले उसकी दशा अजीब थी। प्रायः वह मौन रहता। मुहल्लेवाले उसकी इस मनहूसी से तंग आ गये थे। कुछ सहृदय व्यक्ति यह भी कहते—"बेचारा दुनिया से निराश हो गया है। पहले घरवाली मरी; बाद में जवान बेटा मरा; कुछ दिन बाद पतोहू भी ढाई साल का बच्चा छोड़ चली गई। बच्चे पर उसकी आशा बँधी थी। किंतु, जब वह भी धोखा दे गया, तब बेचारा करे क्या? उसके जीवन में हरियाली कहाँ से आये?

गुलाब प्रौढ़ावस्था को पार कर चुका था। लड़कपन से ही वह यदुवंश बाबू के यहाँ काम करता आया है। गुलाब को इस बात का अभिमान है कि वह तीन पुश्तों से यदुवंश बाबू के यहाँ नौकर है।

बच्चे का नामकरण हुआ, राजेंद्र। धनी माँ-बाप का इकलौता बेटा! लाखों की संपत्ति का एकमात्र अधिकारी! लोग स्नेह से पुकारते—राजा!

मालकिन कहती—"दो न गुलाब अब राजा को। तुम कबतक लिये रहोगे?"

गुलाब कहता—"बहूजी, मेरा राजा क्या ऐसा-वैसा है?
वह दूसरे की गोद में नहीं जाता···क्यों भैया, जाओगे?"

राजा एक बार अपनी माँ की ओर देखता और दूसरी बार गुलाब की ओर। फिर झट गुलाब की छाती में मुँह छिपा कहता—"ऊँ·····हूँ···।"

गुलाब नाचकर कहता—"देखा बहूजी, मेरा राजा कोई मामूली राजा थोड़े है?"

मालकिन हँसते-हँसते लोटपोट हो जातीं। फिर एक बिस्कुट निकाल कहतीं—"बिस्कुट कौन खायगा?"

चौंककर राजा ललचाई आँखों से बिस्कुट की ओर देखता।

मालकिन कहतीं—"जो बिस्कुट खायगा, वह मेरे पास आवे।"

राजा गुलाब की आँखों में आँखें मिला मानों पूछना चाहता—"जाने दो न, गुलाब···बिस्कुट कितनी अच्छी चीज है!···मैं लाचार हूँ···अब मुझसे रहा नहीं जाता···तुम्हारी गोद से बिस्कुट ज्यादा अच्छी चीज है···।"

गुलाब राजा को बढ़ा देता। माता की गोद में आकर राजा

बिस्कुट झपट लेता और फिर उसे मुँह में डाल वह गुलाब की ओर बाँहें फैला देता।

मालकिन की हँसी फूट पड़ती। कृत्रिम रोष-भरे स्वर में कहतीं—"पाजी, यह चालाकी!"

राजा को गोद में लेकर गुलाब भी खिलखिला पड़ता।

राजा बढ़ने लगा।

गुलाब घोड़ा बनता और राजा उसपर सवार हो जाता। एक पतली-सी छड़ी लेकर वह कहता—"चल घोड़े, चल!"

गुलाब घोड़े की तरह दुलकी चाल चलता।

और, इस तरह गुलाब की दुनिया बदल गई। अब एक निर्दोष मुस्कान उसके चेहरे पर छाई रहती, हँसी ओठों पर फूटी पड़ती।

लोग कहते—"आजकल तो तुम बड़े खुश मालूम पड़ते हो गुलाब!"

दोनों हाथ जोड़कर गुलाब रुँधे गले से कहता—"सब भगवान् की दया है भाई!"

राजा जरा भी अस्वस्थ होता कि गुलाब का खून सूख जाता। एक दिन जब राजा का बुखार बढ़ने लगा था, वह आधी रात को देवीजी की मनौती मनाने गया था।

राजा पाठशाला जाता, साथ में गुलाब भी रहता। छुट्टी होने पर राजा को कंधे पर बिठाकर घर लाता। पड़ोसी कहते—"गुलाब ने गुलाब-सा हृदय पाया है।"

राजा किशोर हुआ, किशोर से युवक हुआ और अब वह कॉलेज का विद्यार्थी था।

गुलाब का प्यार ज्यों-का-त्यों रहा। राजा का कमरा वही साफ करता। राजा के जूतों पर पालिश वही देता। सूट ठीक रखने का काम गुलाब ही का था।

यह सब होते हुए भी गुलाब का मन उतना खुश नहीं रहता। उसे ऐसा मालूम होता, मानों कोई चीज खो गई है।

राजा पुकारता—"गुलाब ?"

स्वर में अब गुलाब को अपनत्व नहीं मालूम होता। उसमें अधिकार और बड़प्पन की बू रहती।

एक दिन राजा ने पूछा—"कोट धुलकर आया ?"

"नहीं।" गुलाब ने उत्तर दिया।

"धोबी के यहाँ तो मैंने जाने को कहा था।"

"नहीं गया।"

"क्यों ?" राजा झुँझलाकर बोला। उसे एक पार्टी में जाना था और इस समय अच्छे कोट का अभाव अखर रहा था।

"आज सर में दर्द है।" गुलाब बोला।

"दर्द—झूठा कहीं का...केवल बहाना सीख गये हो !"

गुलाब के हृदय पर मानों किसी ने हथौड़ा मार दिया....वह बहानेबाज है....झूठा है...और वह भी राजा के लिये...उस राजा के लिये, जिसे वह अपने प्राणों से भी बढ़कर मानता आया है !

गुलाब चिल्लाकर बोला—"मैं झूठा हूँ ? मैं बहानेबाज हूँ ?"

राजा का पारा भी चढ़ गया। बोला—"चुप रहो। मुफ्त के पैसे खाकर और क्या करोगे? दिन-भर आलसी बने फिरते हो। इतने रुपयों में दो नौकर मिल सकते हैं, समझे?"

गुलाब को मानों काठ मार गया। जड़वत् वह खड़ा रह गया; फिर आहिस्ते मालकिन के निकट आ खड़ा हुआ।

उसकी पलकें भींगी थीं। हृदय को गहरा धक्का लगा था। इस चोट ने उसे घायल कर दिया था।

वह बोला—"बहूजी, मेरी भूल-चूक माफ कीजिये।...मैं अब यहाँ नहीं रह सकता....।"

"क्यों?" मालकिन को बड़ा आश्चर्य था।

"अब काम में मन नहीं लगता, बहूजी....किसी तीरथ में बाकी दिन काटलूँगा....आपसे छुट्टी लेने आया हूँ....।"

मालकिन हक्की-बक्की-सी खड़ी रह गई। ऐसे अवसर की उन्हें आशा न थी। गुलाब की ईमानदारी पर उन्हे पूरा भरोसा था। इधर राजा का रुख वे कुछ-कुछ समझने लगी थीं। अतएव, सहमकर बोलीं—"राजा ने कुछ कहा है?"

"नहीं, बहूजी...ऐसी बात नहीं है...राजा बाबू अमर हों.... अब कुछ भक्ति-भाव करूँगा बहूजी, परलोक भी देखना है...।"

मालकिन की मुद्रा उदास हो गई। गुलाब जा रहा है, इस विचार ने उन्हें व्यग्र कर दिया। किंतु वे कर ही क्या सकती थीं, जब गुलाब ही जाने पर अड़ा था!

दो सौ रुपयों की थैली उसकी ओर बढ़ाकर वे बोलीं—"यह बुढ़ापे में काम देगा।"

गुलाब पीछे हटते हुए बोला—"ना....ना...बहूजी, अब मैं कुछ न लूँगा....आपकी दया से पूरा हूँ....मुझे रुपये-पैसे की क्या जरूरत ? दो मुट्ठी अन्न तीरथ में बहुतों को मिल जाता है। अपनी नौकरी से मैंने जो रुपये कमाये थे, उन्हें एक अनाथालय में दे दिया है...अनाथ लड़के उससे कुछ फायदा उठायेंगे...।"

मालकिन गुमसुम खड़ी रह गईं; और जब गुलाब लड़खड़ाते पैरों से बाहर चला गया, तब दो मोटे-मोटे आँसू उनकी आँखों से ढुलककर ही रहे !

अतीत की स्मृति

खुली खिड़की के सहारे खड़ी अपर्णा सामने के विशाल जन-समुद्र को देख रही थी। उस भीड़ से इन्क्लाब और जय-जयकार की एक तीव्र ध्वनि निकल पड़ती थी, जो अपर्णा के हृदय से टकराकर उसे शून्य बना रही थी। अपर्णा सूनी आँखों से उस विराट् जुलूस को एक टक देख रही थी। हवा के हल्के झोंके से उसके सिर का आँचल गिर गया था और उसके सुनहले बाल हवा में लहरा रहे थे। अपर्णा बुत की तरह खड़ी थी। गोधूली की धूमिल किरणें उसे भयंकर लग रही थीं। संध्या के आनेवाले अन्धकार में आज और भी अधिक कातरता भर गई थी, और इसके साथ ही अपर्णा का अतीत, एक तीव्र झोंके के साथ, उसके आगे बिखर गया था। उसमें क्या नहीं था? सुख, दुख, हँसी-खुशी के दिन, कल्पना-सी रातें और वह अविनाश...।

इस अविनाश को अपर्णा ने खूब पहचाना है। अपर्णा को वह दिन आज भी याद है, जब उसने पहले-पहल उसे देखा था। उस समय वह शायद सात-आठ वर्ष का रहा होगा। अविनाश ने पूछा था—"क्या नाम है तेरा?"

"पहले तू बता।"

"मैंने पहले पूछा है, इसलिये तू बता।"

"मैं नहीं बताती, पहले तू ही बता।"

"नहीं बताती तो ले यह चाँटा !"—और साथ ही तीन-चार चाँटे उसने अपर्णा के गाल पर जड़ दिये थे।

अपर्णा चीखती हुई माँ के पास गई थी। माँ ने पूछा था—"किसने मारा री?"

"ओ...उस पाजी ने !"

"कौन? बोलती क्यों नहीं?"

अपर्णा ने रोते हुए उँगली उठाकर कहा था—"कल शाम को जो नये किरायेदार उस मकान में आये, उन्हींके लड़के ने।"

"हूँ।"—माँ ने कहा—"चुप रह, मैं शिवनारायण बाबू से कहला दूँगी।"

अविनाश और अपर्णा की यह पहली भेंट थी। और जाने क्यों अविनाश के प्रति उसमें इतना ममत्व उसी दिन कैसे हो गया था? अपर्णा ने दूसरी सुबह उसे देखकर कहा था—"कल तुमने नाम के लिये ही मुझे मारा था न? लो, सुन लो, मेरा नाम अपर्णा है—अपर्णा।"

अविनाश लजाया हुआ-सा खड़ा रह गया था। वह चुपचाप आँखें नीचे किये जमीन की ओर देखता रहा था।

अपर्णा ने कहा था—"अब बोलते क्यों नहीं?"

अविनाश ने लजाते हुए कहा था—"कल मुझसे भूल हो गई अपर्णा, मुझे माफ कर दो।"

उसी दिन अपर्णा और अविनाश में मैत्री हो गई थी। माँ के पास जाकर, कंधे के सहारे झूलते हुए, अपर्णा ने कहा था—"माँ, वह बड़ा अच्छा लड़का है। बेचारे की माँ नहीं है।"

माँ ने विस्मय से पूछा था—"तू किसकी बात कहती है री?"

"वही, जिसने कल मुझे पीटा था।"

"शिबू बाबू के लड़के की?"

"हाँ, माँ, बेचारे की माँ नहीं है। वह बड़ा अच्छा है। कहता है, अब तुझे नहीं मारूँगा अपर्णा! यह देख उसने मुझे नेमनचूस दिये हैं।"

अपर्णा की माँ उत्तर में मुस्कराई थी।

और फिर अपर्णा के वे सुनहले दिन...लड़कपन की बातें... सोने से दिनों और चाँदी-सी रातों की याद...!

× × ×

दिन पंख फैलाकर उड़ रहे थे। अपर्णा बड़ी हो गई थी। अविनाश बड़ा हो गया था। अब वह कालेज में पढ़ने लगा था, और अपर्णा को देखकर उसका चेहरा लाल हो उठता था। अपर्णा का यह सोलहवाँ साल था और अविनाश का शायद उन्नीसवाँ। अपर्णा भी उसे देखती और उसका चेहरा खिल उठता।

एक दिन अविनाश से उसकी मुठभेड़ हो गई। वह कालेज से आ रहा था, और अपर्णा खिड़की से उसे देख रही थी।

अविनाश ने कहा—"अपर्णा, अब तो तू जैसे देवी बन गई है!"

"मैं, अविनाश?"

"हाँ, और कौन? यही देख, एक हफ्ते बाद आज तुझे देख पाया है।"

"तो इसमें मेरा क्या कसूर?"

"क्यों?"—अविनाश जरा चौंका।

"तुम देखते नहीं, मैं कितनी बड़ी हो गई हूँ!"

"ओहो! और कितनी सुन्दर भी, क्यों?"

"धत्, तुम्हारी आदत नहीं छूटी!"

"तो मैंने कौन-सी बेजा बात कही, अपर्णा?" किन्तु कुछ ही क्षण बाद अविनाश का स्वर कुछ काँप रहा था—"अपर्णा, जाने क्यों तू मुझे इतनी अच्छी लगती है!"

अपर्णा का चेहरा लज्जा से लाल हो उठा, और अविनाश का कदम धीरे-धीरे बढ़ता चला गया।

अपर्णा कैसे अस्वीकार करे इस इतने बड़े ध्रुव सत्य को? यह जो अविनाश उसके हृदय के कोने-कोने में रम गया है, इसे वह कैसे छिपावे।

× × ×

अपर्णा का ब्याह हो रहा था। शहनाई बज रही थी। अपर्णा आज दूसरे की हो रही थी। अपर्णा को वह दिन अच्छी तरह याद है, जब उसने अपने हल्के घूँघट के भीतर से अविनाश की

ओर देखा था—उसका चेहरा पीला पड़ गया था; उसकी आँखें शान्त थीं और वे एकटक अपर्णा की ओर देख रही थीं।

अपर्णा लजा गई थी। उस दिन उसका रूप और भी प्रदीप्त हो उठा था। गोल लाल बिन्दी उसके ललाट पर कितनी भली मालूम पड़ रही थी!

अपर्णा अपने पति के घर चली आई थी। पतिदेव ने अपर्णा को हृदय खोलकर अपनाया था। अपर्णा पर उनका वह प्यार आज भी उतना ही है। और अपर्णा के दिन बीते जा रहे हैं—हँसी-खुशी में, प्यार के मृदुल थपेड़ों में।

एक दिन अविनाश के बारे में उसकी माँ ने चिट्ठी के एक कोने में कुछ लाइनें लिखी थीं—"अविनाश पढ़ना-लिखना छोड़कर आजकल आन्दोलन में काम कर रहा है। शिबू बाबू का देहान्त हो गया है, और अब वह अकेला है। यहाँ प्रायः नहीं रहता।"

और अपर्णा ने एक दिन हृदय पर पत्थर रखकर यह भी पढ़ा था, उसका अविनाश अब इस दुनिया में नहीं है! गोली खाकर उसने मृत्यु को अपनाया है।

जुलूस आगे बढ़ रहा था। अविनाश उसका नेता था। मजिस्ट्रेट ने सभा करने की मनाही कर दी थी; किन्तु अविनाश इसका उल्लंघन करने जा रहा था। भीड़ बढ़ती जा रही थी। पुलिस का दल भी इसे रोकने को आगे बढ़ रहा था। पुलिस मना कर रही थी; किन्तु जुलूस आगे बढ़ता गया। मजिस्ट्रेट ने क्रोध

में आकर फायर करने की आज्ञा दे दी, और साथ ही पहली गोली अविनाश के कलेजे को छेदती हुई निकल गई थी !

भीड़ अब भी इन्क्लाब के नारे लगा रही थी। आज उनके प्रिय नेता की पहली निर्वाण-तिथि थी। एक सुविशाल रथ पर अविनाश का फोटो रक्खा था, जो फूलों के बीच मुस्कराता-सा नजर आता था।

अपर्णा ने देखा, उसको दो बड़ी-बड़ी आखें प्यार का स्रोत उँड़ेलती अपर्णा की ओर एकटक देख रही हैं और जैसे कह रही हैं—"अपर्णा, जाने क्यों तुम मुझे इतनी अच्छी लगती हो !"

अपर्णा निर्जीव-सी, निस्पन्द-सी, खिड़की के सहारे कोई एक युग के खोये रत्न को याद कर रही है !

"माँ, ओ माँ !"—की आवाज के साथ उसकी तीन वर्ष की बिटिया नीलिमा रोती हुई वहाँ आ पहुँची और बोली—"माँ, ओ माँ, यह देख, सन्तू ने मुझे तीन चाँटे मारे हैं...मैं उसके साथ नीचे जुलूस देखने गई थी।"

अपर्णा का हृदय फिर जोरों से उमड़ने लगा और जबरदस्ती रोकने पर भी उसकी आँखें छलछला आईं। खिड़की बन्द कर, नीलिमा को गोद में उठा, रुँधे गले से अपर्णा बोली—"चल बिटिया रानी, तुझे लोरियाँ सुनाऊँ।"

———

चाँदनी रात में

पुष्पा के भीतर जो नारीत्व था, उसे समझने की शक्ति हरीश में न थी। हरीश एक दिन पुष्पा के वाह्य सौन्दर्य पर आकृष्ट हुआ था; और यह बात सच भी थी कि उस आकर्षण में एक उन्माद था। किन्तु हरीश ने पुष्पा के हृदय की नारी-प्रकृति को, जो वस्तुतः कोमल और सत्य थी, कब समझने की चेष्टा की थी? धीरे-धीरे पुष्पा उससे बिछुड़ती गई और एक दिन जब घूँघट काढ़, नववधू के वेष में, वह उससे दूर—बहुत दूर—चली गई तो हरीश स्तब्ध रह गया। पुष्पा की याद उसे सताती थी। कुछ दिनों तक तो वह विक्षिप्त-सा ही रहा था; किन्तु धीरे-धीरे वह ज़बरदस्ती पुष्पा की मूर्ति को, जो अचल और दृढ़ बनी उसके हृदय में बैठी थी, हटाने की चेष्टा करने लगा था; किन्तु वह कहाँ सफल हो पाता था? वह पुष्पा को भूलने की चेष्टा करता था, पर पुष्पा उसके हृदय में और भी उज्ज्वल और मूर्त हो उठती थी।

गाड़ी अपनी फ़ुल स्पीड में थी। स्टेशन-पर-स्टेशन गुज़र रहे थे। सामने की बेंच पर एक अधेड़ सेठ-दम्पती अपने आधे

दर्जन लड़के-लड़कियों को घेरकर निश्चिन्त बैठे थे। दिन-भर की कड़ी धूप के बाद चाँदनी की रात बड़ी भली मालूम पड़ रही थी।

केहुनी पर माथा टेके, खिड़की के पासवाली बेंच पर बैठा हरीश अन्यमनस्क-सा बाहर की मूर्च्छित चाँदनी की ओर देख रहा था। दूर, एक पतली-सी नदी की धारा चाँदनी में पड़कर झलमला रही थी।

हरीश ने समझा न था कि मनुष्य के हृदय में इतना परिवर्त्तन आ सकता है। उसने समझ रक्खा था, प्रणय की बात कोरी भावुकता है, जो कल्पना के राज्य में उड़नेवाले कवियों और कहानी-लेखकों तक ही सीमित है। वास्तविक दुनिया में उसकी कोई गुंजायश नहीं; किन्तु आश्चर्य! उसकी यह धारणा कितनी भ्रान्त निकली! जिस दिन उसने पुष्पा को चुपके आँखों से देखा, वह खड़ा अवाक् रह गया था। यह क्या वही पुष्पा थी? वही लड़कपनवाली पुष्पा? यह क्या वही पुष्पा थी, जिसके साथ उसने मिट्टी का घरौंदा बनाया था, एक ही आम को एक साथ चूसकर खाया था और न-जाने कितनी शरारत-भरी कहानियाँ जिसमें भरी थीं?

हरीश के पिता सरकारी नौकर थे, अतएव उनकी बदली एक दूसरे शहर में हो गई थी। उस समय पुष्पा महज़ आठ वर्ष की थी। भोली, अपने में खोई-सी, घुँघराले बाल और फ़्राक पहने पुष्पा की वह सुन्दर तस्वीर अब भी हरीश की आँखों के आगे नाच जाती है।

और अब, जब आठ वर्षों बाद वह फिर अपने पुराने मकान में आया था, वहाँ काफ़ी परिवर्त्तन हो चुका था।

कमरे के दरवाज़े पर खड़ा होकर हरीश अपने पढ़ने के कमरे को सजवा रहा था। इतने में उसकी दृष्टि सामने के दोतल्ले मकान पर पड़ी। एक मधुर स्वप्न की तरह सुन्दर मूर्ति रेलिंग के सहारे खड़ी थी।

हरीश ने माँ को बुलाकर पूछा था—"यह सामनेवाला मकान किसका है, माँ?"

"यह लो!" माँ ने मुसकराते हुए कहा था—"तू इतनी जल्दी भूल गया रे हरीश।"

हरीश चुप खड़ा था।

"वही तो इंजीनियर साहब की कोठी है। वह लड़की जो तू देख रहा है, वही तो पुष्पा है।"

"पुष्पा?" हरीश को जैसे कोई खोई बहुमूल्य वस्तु मिल गई थी।

उसने सोचा—"यह क्या वही पुष्पा है, जिसकी धुँधली-सी याद अब भी उसके हृदय के एक कोने में छिपी पड़ी है!"

सहसा उसका ध्यान उचट गया। सामने की बेंच पर सोये हुए सेठ साहब के एक सुपुत्र ने अपने भाई की पीठ पर अनजान में एक लात मार दी थी; फलतः दोनों में तुमुल द्वन्द्व हो गया था और उन्होंने सारे डिब्बे को अपने क्रन्दन एवं चीत्कार से भर दिया था। सेठ साहब लोटे को तकिया बनाकर गम्भीर निद्रा में

निमग्न थे और उनकी नाक की विकट आवाज़ मनहूस-सी चारों ओर फैल रही थी। सेठानी हाथ-भर का घूँघट काढ़े अपने सबसे छोटे सुपुत्र को स्तन-पान करा रही थीं और उनके गहनों की खनखनाहट रह-रहकर बज उठती थी। तीसरी बेंच के एक कोने में एक महाशय मि० ब्लेक के चार आनेवाले उपन्यास का मज़ा लूट रहे थे।

बहुत देर बाद सेठानी के एक-एक बताशा देने पर, जिनपर निश्चय ही एक-एक इंच धूल जमी थी, वे चुप हो गये।

चाँद आकाश में खिल रहा था। हरीश की दृष्टि सिर्फ उसी पर जमी थी।

पुराने मकान में आने के बाद प्रायः नित्य ही हरीश और पुष्पा की दृष्टि मिल जाती थी। पुष्पा के चेहरे पर लज्जा की रक्तिम आभा दौड़ जाती थी। हरीश भी झेंपकर दृष्टि नीचे कर लेता था।

अब वह शरत बाबू के 'चरित्रहीन' की नायिका 'सावित्री' में पुष्पा की छाया देखता था; 'देवदास' की 'पारू' अब पुष्पा ही थी; 'आल्डमर्स फ़ील्ड' की नायिका 'एडिथ' में वह पुष्पा को ढूँढने लगा था; कीट्स और शैली—शेक्सपियर की 'पोर्शिया' में वह पुष्पा को पाता था!

पुष्पा उसके हृदय के निकट आती गई, किन्तु अब भी वह एक पहेली-सी थी। वह मुस्कराती थी, उसकी आँखें भी मानों

मुस्कराती नज़र आती थीं। सारा संसार उसे पुष्पामय दीख पड़ने लगा था।

उसने इंटरमीडियेट पास किया था। इसके उपलक्ष्य में उसकी माँ ने पूजा का आयोजन किया था। पुष्पा भी अपनी माँ के साथ आई थी। उसकी माँ पुष्पा की माँ से बातें करने में लगी थी। पुष्पा ने हरीश को सामने देखकर दोनों हाथ जोड़ दिये और खिलते अधरों से बोली—"नमस्ते!"

"अरे...तुम पुष्पा!"—हरीश के मुँह से यकायक ये शब्द निकल पड़े थे। बाद में जीभ को दाँत से दबाते हुए उसने घबराहट के स्वर में कहा था—"माफ़ कीजिये, भूल हो गई!"

"कैसी भूल?" अकचकाकर पूछा था पुष्पा ने।

"मैंने आपको 'तुम' जो कह दिया!"

पुष्पा खिलखिलाकर हँस पड़ी थी। बोली—"यह आपने पते की बात कही!"

हरीश सन्न रह गया था। उसे क्या उम्मीद थी कि पुष्पा उसके इतना निकट आ सकती है!

इस बार स्टेशन पर अधिक पैसेंजर चढ़े। फलतः डिब्बे में शोरगुल तीव्र हो उठा। एक दढ़ियल सिक्ख सेठ साहब से उठने के लिये बारबार ज़ोर देकर कहने लगा; किन्तु सेठजी भी पूरे अंगद के पैर जैसे अड़े थे। बात बढ़ती जा रही थी। सिक्ख ने यह धमकी दी कि अगर सेठ नहीं उठते तो वह बलपूर्वक उन्हें

घसीटकर उठा देगा। सेठानी न-जाने क्या अपने घूँघट के भीतर से बुदबुदा रही थीं ; शायद वह दढ़ियल सिक्ख की इस नाजायज़ हर-कत को कोस रही थीं। अन्त में दढ़ियल सिक्ख की ही जीत हुई। लोटा छीनकर, जिसे सेठ तकिया बनाये हुए थे, सिक्ख ने कहा—"उठिये, नहीं फेंकता हूँ।"

सेठ साहब को लोटे के मोह ने आखिर उठाया ही। न जाने कहाँ से बादल का एक टुकड़ा चन्द्रमा के निकट आ गया था। बादल से आधा छिपा हुआ चाँद और भी सुन्दर दीख पड़ने लगा था।

तब उसे सचमुच विश्वास होने लगा था कि पुष्पा उसे चाहती है। पुष्पा ने एक दिन अपने छोटे भाई द्वारा—जो अभी सात-आठ साल का ही है—एक रूमाल भिजवाया था। उसपर रेशमी तागों से हरीश का नाम लिखा था और बेलकाढ़े फूलों के बीच लिखा था—"प्रेम-भेंट।"

उन दिनों की कहानी में एक मीठा दर्द छिपा है। कल्पना का महल बड़ी खूबी से हरीश बनाता जा रहा था; उसमें हरीश और पुष्पा के सिवा कोई न था।

किन्तु एकाएक कल्पना का महल टूट पड़ा। उसमें अरमानों के जितने पाये थे, सब लड़खड़ाकर गिर पड़े।

पुष्पा एक दिन किसी दूसरी जगह बहूरानी बनकर चली गई थी। रोमांस का अन्त बड़ा करुण था।

× × ×

धीरे-धीरे एक साल गुज़र गया।

हरीश ने पुष्पा को भूलने की चेष्टा की; किन्तु वह असमर्थ रहा। रोमांस की छाप अब भी बुरी तरह उसके हृदय पर चिपकी थी।

संयोग की बात। वह राँची घूमने आया था। एक दिन संध्या के समय एक डाक्टर की दूकान पर उसकी मुलाक़ात पुष्पा के पति से हो गई। वह उत्सुक होकर पुष्पा से मिलने चला। पुष्पा की सोई हुई आकृति उसके हृदय में फिर जाग उठी।

रास्ते में पुष्पा के पति ने बतलाया कि पुष्पा के जीने की आशा बहुत कम है। रह-रहकर उसे 'फ़िट' (मूर्च्छा की बीमारी) हो जाती है। बीच में एक मरा हुआ लड़का भी पैदा हुआ था; इससे उसके हृदय पर शोक का बड़ा धक्का पहुँचा है।

हरीश पुष्पा के निकट आ खड़ा हुआ।

यह क्या वही पुष्पा है?—उसके हृदय का ज्वार मानो उबल पड़ा था।

—वही तो—पीली और हड्डी का ढाँचाभर लिए उसकी पुष्पा बिछावन पर पड़ी है!

पुष्पा उसे देखकर हर्ष से खिल उठी थी। उसके शुष्क अधर मानो सजीव हो उठे थे। वह बोल नहीं सकती थी; उसका कंठ अवरुद्ध था।

हरीश की आँखें छलछला आई थीं ; रुमाल से आँसू पोंछते वह बाहर चला गया था।

और सातवें दिन पुष्पा इस दुनिया में न थी।

× × ×

ट्रेन रात्रि के सन्नाटे को चीरती हुई आगे बढ़ी जा रही है। हरीश आज राँची छोड़ अपने घर जा रहा है। चाँदनी की शुभ्र ज्योत्स्ना में जीवन की सारी घटनाएँ एक के बाद एक आँखों के सामने आने लगी हैं। और टेहुनी पर माथा टेके, चाँद की ओर देखता हुआ हरीश कुछ सुलझाता-सा नज़र आ रहा है।

दूसरा पहलू

सुधा झल्ला रही थी। कैसा पाजी लड़का है! खेल भी कोई इस तरह खेलता है? न खाने की सुध; न पीने की; एतवार की छुट्टी क्या हुई, एक बला आगई!

बाहर यमुना गुड़ियों से खेल रही थी। उसे पुकारकर बोली—"जा तो रानी बेटी, देख वह पाजी क्या कर रहा है?"

यमुना अपनी दुलहन को सजा रही थी। ऐसी अप्रिय आज्ञा उसे तनिक न भाई। मोती की लड़ी ठीक करते वह बोली—"मैं नहीं जाती।"

"नहीं जायगी?"

"अभी नहीं।"

"मैं कहती हूँ, जा चुड़ैल......!"

माँ की भयानक मुद्रा देख यमुना रोनी-सी सूरत बना गोविन्द की खोज में चली।

वह अपने सहोदर बड़े भैया का अड्डा जानती थी। वहाँ पहुँच-कर देखा, जमघट लगा है। गोलियों का खेल तेजी से जारी है। वासन्ती, मोहन, प्रह्लाद, शंकर, उमिया सभी तो मौजूद हैं!

गोविन्द के निकट जाकर यमुना खड़ी हो गई। फिर आहिस्ते से उसने गोविन्द के कान में कहा—"घर चलो। माँ गुस्सा कर रही है।"

"ठहर भी!"—गोविन्द ने उस ओर बिना देखे कहा। ऐसी बातों का वह अभ्यस्त हो चुका था। खेल में ध्यान देते हुए वह बोला—"तू भी खेलेगी? आ, ओ री वासन्ती, तू यमुना के साथ खेल......।"

ललचाई आँखों से यमुना खेल देख रही थी। उसे मानो मुहमाँगी मुराद मिली! वासन्ती के साथ वह भी रम गई।

दस मिनट...बीस...आध घंटे...और अब पूरा एक घंटा! सुधा का जी खीझ से भर गया। वह भी जाकर वहीं रम गई? आई चुड़ैल, आज ऐसी खबर लूँगी कि याद रक्खेगी। रसोई कब की ठंढी हो चुकी।

महरी बर्तन माँजकर जाने की तैयारी कर रही थी। उसे पुकार सुधा बोली—"रग्घू की माँ, जा उन्हें पकड़ तो ला। आज ऐसी खबर लूँगी...ऐसी खबर लूँगी कि छठी का दूध याद आयगा।"

और, जब अपराधी की तरह वे दोनों आ खड़े हुए तब सुधा और भी जल-भुन गई। सबेरे से एक दाना भी वह इन लोगों के कारण मुँह में न डाल सकी!

तड़...तड़...चार-पाँच तमाचे गोविन्द को जड़ दिये—"पाजी, कहाँ मर गया था रे? तू आजकल बड़ा शोख होता जा रहा है, क्यों?"

और, फिर वह छोटा-सा कमरा तुमुल क्रन्दन से गूँज उठा। रागों की विचित्र ध्वनियाँ थिरकने लगीं।

रात को जब सुधा के पति अपने कपड़े की दूकान से आये तब सुधा बोली—"लड़के बिगड़ते जा रहे हैं; तुम कोई खयाल नहीं करते।"

सुधा के पति चश्मा लगाये कोई लेन-देन का हिसाब ठीक कर रहे थे। कागज पर ही दृष्टि डाले उन्होंने कहा—"हूँ!"

"हूँ क्या, जब तुम ही ध्यान न दोगे तब वे बिगड़ेंगे ही...।"

सुधा के पति ने आधा सुना, आधा नहीं। उन्होंने हुँकारी-भर दी —"हूँ!"

सुधा झल्ला उठी। बोली—"मैं कहती हूँ, तुम्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिये।"

स्वर सुनकर सुधा के पति चौंक उठे। बोले—"ध्यान ? अच्छा...अच्छा...।" और, फिर वे यथावत् अपने कार्य में संलग्न हो गये।

× × ×

जाने कहाँ गोविन्द ने आज स्कूल से लौटती बार स्प्रिंगवाली मेम साहिबा देख ली थी। घर आकर उसने तूफान खड़ा किया। बोला—"मैं वह मेम लूँगा—जरूर लूँगा। एक रुपया दाम है। मुझे अभी एक रुपया दो।"

सुधा काम करते-करते थक गई थी। फिर इस नये उपद्रव को देख वह चंचल हो उठी—"मैया री! कैसा बन्दर है...एक मिनट

भी शैतान चैन नहीं लेने देता। अभी स्कूल से आया और आते ही... ।"

अपने सबसे छोटे लड़के को वह दूध पिला रही थी। बोली—"एक रुपया! जानता है एक रुपये में कित्ते पैसे होते हैं?"

"मैं जानता हूँ, सब जानता हूँ—तुम्हें अभी देना होगा।"—पैर पटककर गोविन्द बोला।

"देना ही होगा...आये बड़ा लेनेवाला!"

तब गोविन्द ने अपना अन्तिम अमोघ अस्त्र निकाला, और वह था अविराम रोने का! अपने दस साल के दीर्घ अनुभव में यही अस्त्र गोविन्द ने अचूक पाया है, कारण उसकी माँ यह चिल्लाना कतई पसन्द नहीं करती।

लाचार हो सुधा ने एक रुपया फेंककर कहा—"जा, दूर हो जा पाजी यहाँ से—जरा भी चैन लेने दे!"

× × ×

आँसू पोछ, विजयी हो, यमुना को साथ गोविन्द जब खिलौना लेने चला उस समय शाम हो गई थी और कुछ हल्की बूँदें भी पड़ रही थीं।

गली की मोड़ पर आकर वे ठिठक गये। एक नन्हा-सा बच्चा अपनी अन्धी माँ को लिये आ रहा था।

बच्चा बहुत ही छोटा, शायद पाँच साल का हो। उसनें गोविन्द के सामने छोटी-सी तलहथी फैला दी।

वे दोनों भाई-बहन ठिठक गये।

लड़का बोला—"बाबूजी, हम भूखे हैं...।"

भाई ने बहन की ओर देखा और बहन ने भाई की ओर।

बच्चे की माँ बोली—"भगवान् तुम्हारा भला करेगा। हमें किसी ने कुछ नहीं दिया भाई...।"

और गोविन्द के हृदय में एक प्रबल ज्वार आया। बच्चे की सूनी आँखें बड़ी कातर लगीं; वह शायद ठंढ से काँप रहा था।

गोविन्द का हाथ अनायास उठा और दूसरे ही क्षण उसका रुपया बच्चे की छोटी-सी तलहथी पर था!

३

माँ ने छूटते ही पूछा—"खिलौना लाया?"

गोविन्द चुप।

"रुपया कहाँ है?"

गोविन्द निर्विकार भाव से मौन खड़ा रहा।

मैं पूछती हूँ, ओ रे पाजी! तूने रुपया क्या किया?"—सुधा को गुस्सा आ रहा था—"बोल...।"

गोविन्द फिर भी मौन!

"नहीं बोलेगा?"

गोविन्द पत्थर की मूर्त्ति-सा स्तब्ध!

अब सुधा से न रहा गया। तड़ाक-से एक चाँटा पड़ा और दूसरा पड़ने को ही था कि यमुना चिल्ला उठी—"माँ?"

सुधा क्रोध में मुड़ी।

"माँ, मैं बताती हूँ।"—और यमुना काँप रही थी। फिर काँपते-काँपते सारी घटना कह डाली।

सुधा स्तब्ध, मूक, अवाक् और...यह क्या? उसकी आँखों में आँसू उमड़ आये!

गोविन्द को कलेजे से लगा बोली—"बेटा...।"

"माँ"—इस बार भर्राये गले से गोविन्द बोला।

सुधा गोविन्द को अपने अंक में कसने लगी। उसका मातृत्व फूल उठा। उसके सिर के बालों में अपनी ऊँगलियाँ फेरते वह रुँधे कंठ से बोली—"तू एक बड़ा आदमी होगा गोविन्द! भगवान तुम्हारा मंगल करे!"

समस्या

स्मृतियों का जाल मुझे जकड़ रहा है। एक-पर-एक किसी भग्न खँड़हर के टूटे पाये की तरह जीवन के पर्दे लड़खड़ा रहे हैं। मैं क्या चाहता हूँ? ...अधूरा...अधूरा...मानो मेरे इस दीर्घ जीवन के सारे अध्याय अधूरे ही पड़े हैं; कहीं पूर्णता नहीं, कहीं विराम का चिह्न नहीं। जीवन मानो निर्जीव हो गया है, जिसे सिर्फ चलना-ही चलना है; पीछे मुड़कर देखना भी मानो अभिशाप है। कायदों और कानूनों के बन्धन से बँधी हुई यह दुनिया मानो सिर्फ बुझने के लिये ही जलती है। जलती है और साथ-साथ एक ऐसा विषैला धुँआ भी छोड़ती जाती है जो जीवन की मंजिल को और भी धुँधला बना रही है।

ठिठककर, रुककर, जब मैं पीछे की दूरी को देखता हूँ, तो भय से मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह क्या सच ही मैं 'पूर्णता' की ओर बढ़ रहा हूँ? और भीतर से धिक्कार की एक ध्वनि तीव्र स्वर में प्रतिवाद कर उठती है, '...झूठ...मिथ्या...मरीचिका!'

... ...

'तो इस तरह हमलोग कब तक टिकेंगे, उदय?' सावित्री के इस प्रश्न ने मुझे चौंका दिया था। मैंने देखा, उसकी उन बड़ी-बड़ी

आँखों में शून्यता भर आई है। सावित्री मुझे बड़ी उदार लगी और में उसे गौर से देखता रह गया।

'आखिर तुमने क्या निश्चय किया है?'

'निश्चय ? तुम भी सन्देह के दायरे में पड़ी हो साबो ?'

सावित्री का चेहरा स्याह हो गया था।

'सावित्री, जीवन में जब हमने संघर्ष का रास्ता पकड़ा है, फिर लौटकर हम कायर क्यों बनें ?'

'किन्तु, मैं कैसे बरदाश्त कर सकूँगी उदय ?'

'तुम भूलती हो, सावित्री, तुम अपनी शक्ति को नहीं पहचान रही हो।

'किन्तु मैं दुर्बल संस्कारों में पली जो हूँ ...।'

'वे आप-से-आप दूर हो जायँगे सावित्री ... ।' और, सावित्री ने सिर झुका लिया था। सावित्री को मुझपर कितना भरोसा था ? तभी तो आज कुल-परिवार की लज्जा त्यागे, निस्संकोच सावित्री मेरे आश्रय के नीचे आ गई थी। सावित्री ने जो मुझे देवत्व दिया था, उसे मैं समाज से बहुत ही अधिक मूल्यवान् समझ रहा था।

'तो इसका भार तुम कबसे लेती हो ?' मैंने गम्भीर होकर पूछा। 'कल सुबह से ही' यह कहते हुए सावित्री का मुख-मंडल प्रदीप्त हो उठा था।

दूसरे दिन सावित्री खादी के शुभ्र वेश में झंडा लिये आगे बढ़ी जा रही थी। तिरंगा झंडा उसके हाथ में था और स्वयंसेविकाओं की एक टोली उसके पीछे मन्त्र-मुग्ध-सी चली जा रही थी।

सावित्री का मधुर कंठ गा रहा था—'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झंडा ऊँचा रहे हमारा !' सावित्री का स्वर गीला था; स्नेह के कुछ कण उसकी आँखों में आ गये थे; मानो सचमुच वह अपनी लाचार और बेबश माँ की दशा देख अपने को नहीं रोक सकी है !

हर्ष और विस्मय से विमुग्ध होकर चुपके आँखों से मैं सावित्री की ओर देख रहा था। उन्नीस वर्ष की वह दुबली-पतली सावित्री आज रूप की एक अनुपम देवी-सी प्रतीत हो रही थी। सावित्री को आज मैं सच्चे रूप में पहचान पाया था।

... ...

दूसरे ही दिन सावित्री को भद्र अवज्ञा आन्दोलन में नौ मास की सजा हो गई। सजा सुनकर एकबार मेरा पत्थर का हृदय भी दहल उठा। सावित्री के अन्तस्तल में जो वीरत्व सोया था, उसको मैंने जगा तो दिया था, किन्तु आज मेरा हृदय किसी आशंका से धड़क रहा था।

मैंने सावित्री की ओर देखा, उसके अधरों पर मुस्कान खेल रही थी। धीरे-धीरे वह मेरे निकट आई और मेरे चरणों की धूल माथे पर लगाकर बोली—'देवता, मुझे आशीर्वाद दो कि मैं देश के काम आ सकूँ।'

मैंने सावित्री के पवित्र चेहरे की ओर देखा; उसपर एक दिव्य ज्योति झलक रही थी।

'तुम जा रही हो, सावित्री... ?' मेरे मुँह से अनायास ही निकल गया था।

'क्यों, तुम न आओगे ?' सावित्री के स्वर में भोलापन था।

'आऊँगा साबो। मैंने अपनी उमड़ती हुई पीड़ा को दबाकर कहा था—'अवश्य आऊँगा।'

... ...

सावित्री चली गई थी। वह मेरे अनुमान से भी अधिक उज्ज्वल निकली। कुछ समय बाद ही, मैं भी उसी पथ का पथिक हुआ। मुझे डेढ़ साल की सजा हुई थी। और फिर जेल की उस सूनी कोठरी में सावित्री की आकृतियाँ किसी छाया-चित्र की तरह मेरी आँखों के सम्मुख नाचा करती थीं। दो तीन महीनों तक सावित्री की चिट्ठियाँ आती रही थीं जिनमें प्यार का छलकता हुआ तूफान रहा करता था। किन्तु, सावित्री ने अन्त में मुझे धोखा दिया। उसने ऐसा करके मेरे जीवन में जो हाहाकार भर दिया है, उसे मैं कैसे क्षमा कर सकूँगा ? एकाएक दैवी विपद् की तरह सावित्री का यह पत्र मुझे मिला। उसने लिखा था :—

'देवता मेरे,

यह शायद हमारे हतभाग्य जीवन का अन्तिम पृष्ठ हो। मैं आज तीन महीनों से क्षय में घुल रही हूँ देव, किन्तु मातृत्व की पुकार और कर्त्तव्य की प्रेरणा ने मेरे हाथ को जकड़ लिया था। अब और छिपाना नहीं चाहती। दीप जल चुका है; उसकी अन्तिम लौ बाक़ी है; और मैं उसीकी प्रतीक्षा कर रही हूँ। तुम कहोगे—मैंने यह अन्याय किया, किन्तु मैं और कर ही क्या सकती थी देव ? अब मैं अस्त हो रही हूँ, और दूसरे जन्म की प्रतीक्षा में हूँ, जिससे

माँ के बन्धन खोलने में समर्थ हो सकूँ। तुम अपने कर्त्तव्य से विमुख न होना;—भावुकता के प्रवाह में 'समस्या' को न भूल जाना। यह जिन्दगी की दौड़ है; इसमें शोक एवं हर्ष करने का समय ही कहाँ है ?

चिर विदा दो, प्राण; हाथ काँप रहे हैं, मूर्च्छित होने को हूँ।'

सदा तुम्हारी,

'सावित्री'।

... ...

और, एक दिन मैंने सुना, सावित्री चली गई थी। हाँ, उसने एक दिन मुझे धोखा दे ही दिया। उसे खोकर मैं सोचता हूँ, उसने कहा था, 'समस्या' को न भुला देना। और आज भी मैं समस्या को सुलझा ही रहा हूँ। जीवन की दार्शनिकता, अपनी अपूर्णता, मानव की इस अहंमन्यता को देखकर मुझे लगता है... संसार झूठा है...ये सारे खेल मिथ्या हैं...पानी के बुलबुले से...!

किन्तु सावित्री की वह समस्या ?

मैं उसे सुलझा रहा हूँ...आजीवन सुलझाता रहूँगा, जबतक यह सुलझ न जाय। मैं उसकी दिवंगत आत्मा को क्लेश नहीं पहुँचा सकता।

मृगतृष्णा

[१]

चारों ओर के वायु-मंडल में एक अजीब तरह का उल्लास छा गया। मनोरमा के संगीत से जो ध्वनि निकल रही थी, उससे सारा जनसमाज मन्त्रमुग्ध हो उठा। घुँघरू के 'छन-छन' और मृणाल-सी भुजाओं की भावभङ्गिमा बड़ी ही आकर्षक थी। मनोरमा अपने को भूली, गान में इस तरह बेसुध थी कि उसे इस बात का जरा भी ध्यान न था कि वह एक विस्तृत जनसमाज में गा रही है। इसी मण्डली के एक कोने में दिवाकर ठिठका खड़ा था और उसकी आँखें मनोरमा के चेहरे की मनोवैज्ञानिक रेखाओं को पढ़ रही थीं, जिनमें एक अद्भुत पवित्रता थी, एक अलौकिक भाव था।

और ज्यों ही गान की अन्तिम कड़ी खतम हुई, मनोरमा जैसे चिहुँकी। सिर के गिरते आँचल को उसने सँभाला और लज्जा से मानो दबी, वहीं बैठ गई। तालियों की गड़गड़ाहट से सारा कमरा गूँज उठा।

"बहुत खूब!"—एक अधेड़ व्यक्ति ने अपनी राय जाहिर की—"तुम्हारी मनोरमा तो खूब ही गाती है बाई!"

बाई ने झुककर उत्तर दिया—"सब आपकी कृपा है वकील साहब ! मनोरमा, बाबू को पान दे !"

और कुछ मिनट के बाद बैठक स्थगित हो गई।

[२]

दिवाकर हृदय में एक मीठा दर्द लिये वहाँ से लौट रहा था। आज जो वह कल्पना-सी सुन्दर तसवीर को आँखों से देख पाया है, वह क्या भूलने की वस्तु है ? वे सहमी-सहमी मृग-सी आँखें, लजाये कपोल, प्रदीप्त चेहरा !

...हूँ—किन्तु इन बातों से उसे क्या ? वह उसकी कौन है ? एक वेश्या की लड़की ! छिः.........।

वेश्या की लड़की ? किन्तु इसमें उसका दोष ?

और मनोरमा की वे सहमी, बड़ी-बड़ी आँखें, जैसे दिवाकर के आगे आ खड़ी हुईं। मानो वे कह रही हों—"मुझे बचाओ, मैं यह सब नहीं चाहती।"

दिवाकर जैसे सन्न रह गया। क्यों यह आकर्षण उसे आकर्षित कर रहा है ? यह भ्रम है, जाल है। ये कलंक की बातें हैं। वह ऐसी बातों में नहीं पड़ेगा; दुनिया में बहुत-सी कमजोरियाँ हैं, बहुत से अभाव हैं; फिर वह किन-किन बातों के लिये दौड़ता फिरे ?

[३]

उसके एक बन्धु के यहाँ ब्याह था; उसने दिवाकर को निमन्त्रण दिया और वह अपने प्रिय बन्धु की आज्ञा न टाल सका। किन्तु

यहाँ आकर उसने एक अद्भुत सौदा कर लिया है! मनोरमा··· मनोरमा, बस, उसीकी आकृतियाँ मस्तिष्क में घूम रही हैं।

और, एक दिन धड़कते हृदय से, मनोरमा का पता जान, वह उसके यहाँ पहुँच ही गया। पैर काँप रहे थे; दिल की धड़कन बढ़ गई थी।

मनोरमा ने देखा, ये तो वे ही बाबू हैं, जिनके हाथ मजलिस में पान लेते समय लड़खड़ा गये थे!

"आइये"—मनोरमा ने हौले स्वर में पुकारा।

दिवाकर के पैर जैसे जकड़े थे; वह तब भी ठिठका खड़ा था।

मनोरमा ने देखा; खादी के उज्ज्वल वेष में यह सुन्दर युवक, जिसके चेहरे पर घबराहट के साफ चिह्न हैं, कैसा विचित्र है!

मनोरमा को लगा, जैसे वह एक अद्‌भुत व्यक्तित्ववाले युवक के सामने खड़ी है, जिसके आते ही हवा में न जाने एक कैसी सुगन्ध भर गई है!

"मेरे आने से आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ?"

"कष्ट? यह तो मेरा सौभाग्य है······।"

"सौभाग्य? आप इसे सौभाग्य मानती हैं?"

"तो और क्या मानूँ?" मनोरमा की मुद्रा उदास हो गई।

"आप यह सब कैसे बरदाश्त कर लेती हैं।"

मनोरमा एकटक दिवाकर को देखती रह गई; फिर आहिस्ते बोली—"परिस्थितियाँ ही सब सुलझा देती हैं दिवा बाबू!"

दिवा बाबू ?—दिवाकर जैसे आकाश से गिर पड़ा। बोला—आप मेरा नाम जानती हैं ?"

"नाम ही क्यों, पूरा पता जानती हूँ।"

दिवाकर चुप रहा।

"उस दिन मजलिस में पान लेते समय आपका हाथ जो लड़खड़ा गया था, उससे मुझे कुछ कुतूहल हुआ था। मुझे सारा हाल निरंजन बाबू से मालूम हुआ। आप उनके सहपाठी हैं। उनके निमन्त्रण से यहाँ आये हैं। धनी माँ-बाप के एकलौते लड़के हैं...... आपकी सच्चरित्रता पर निरंजन बाबू को अभिमान है...और...।" —कहकर मनोरमा मुस्कुराई।

दिवाकर लज्जित हो उठा और उस दिन जल्द ही लौट गया।

[४]

किन्तु, मनोरमा के आकर्षण से वह न बच सका। अपनेको उसने असमर्थ पाया। मनोरमा ने भी देखा, दिवाकर उस दुनिया का आदमी है जो पूजनीय हैं, वन्दनीय हैं। और मनोरमा झुक गई। उसके हाहाकार करते हुए हृदय को दिवाकर द्वारा बहुत ही सहारा मिला। उसने अपने को दिवाकर के सहारे लगा दिया।

दिवाकर ने कहा—"मनोरमा, बिधाता भी कितना अन्यायी है।"

"क्या ?" मनोरमा न समझ सकी।

"इतने सुन्दर गुलाब को उसने काँटों से घेर रक्खा है।"

मनोरमा के चेहरे पर नववधू की तरह लज्जा की रक्तिम आभा दौड़ गई।

"मैं तुम्हें अपनी जीवन-संगिनी बनाऊँगा मनोरमा !"

"दिवाकर बाबू !" मनोरमा का कण्ठ हर्ष से अवरुद्ध था।

"मनोरमा, तुम सचमुच ही शापभ्रष्टा देवी हो।"

"ओह ...!" मनोरमा की आँखों से आँसू टपक ही पड़े।

और, मनोरमा सचमुच बदल गई थी। शृङ्गार के सारे कृत्रिम साधन उसने उतार फेंके थे। सिर्फ एक स्वच्छ साड़ी में ढँकी मनोरमा का सौन्दर्य्य पवित्रता बिखेर रहा था।

उसकी माँ उसकी यह वेष-भूषा और चाल-ढंग देख सोच में पड़ गई ! बोली—"तुझे यह सब क्या सूझा है, मनोरमा ?"

"मैं अब पत्नी बनूँगी माँ !"

"पत्नी ?"—माँ का माथा ठनका।

"हाँ, मुझे यह पेशा पसन्द नहीं आता।" और, मनोरमा मुड़ पड़ी।

[५]

उस दिन दिवाकर का चेहरा मुर्दे की तरह सुफेद था, आँखें लाल थीं, सिर के बाल बिखरे थे। भर्राये स्वर में उसने पुकारा— "मनोरमा......?"

"क्या हुआ ?"

दिवाकर ने पत्र बढ़ा दिया। साँस रोककर मनोरमा पढ़ने लगी—

"दिवाकर,

तुम्हारे पत्र को पाकर मैं शर्म में डूब गया। मैंने क्या ऐसे ही

दिन देखने के लिये तुम्हें पैदा किया था दिवा ? तुम्हारे हाथ यह लिखते क्यों न गल गये कि तुम एक वेश्या की लड़की को प्यार करने लगे हो ! मेरे इतने उच्च खानदान को, जिसकी प्रतिष्ठा हमारे पूर्वजों ने प्राण खोकर भी रक्खी है, क्या तुम अपनी एक तुच्छ वासना के लिये मटियामेट कर दोगे ? और अधिक न लिखकर मैं सिर्फ यह लिख रहा हूँ कि पत्र पाते ही तुम चले आओ। तुम्हारी माँ ने यह समाचार सुन आज दो दिनों से अनशन कर रक्खा है। पत्रवाहक के साथ तुम लौटती ट्रेन से चले आओ।

पत्र मनोरमा के हाथों से छूट पड़ा।

दिवाकर गीले स्वर में बोला—"मनोरमा.........?"

मनोरमा चुप थी।

"मनोरमा, मुझे माफ कर दो।" दिवाकर की आँखें बरस रही थीं।

मनोरमा का दम घुट रहा था। अपने उमड़ते आँसुओं को दबाकर वह बोली—"मुझे भूल जाइये दिवा बाबू !"

... ...

दूसरे दिन मनोरमा का चेहरा काफी उतरा हुआ था; आँखें सूजी थीं।

माँ के निकट जाकर वह स्थिर स्वर में बोली—"आज से फिर मैं पेशा शुरू करूँगी माँ !"

माँ को जैसे विश्वास न हुआ। कुछ देर सोचने के बाद उसने जरा व्यंग्य में कहा—"क्यों, दिवा बाबू चले गये ?"

मनोरमा का चेहरा तमतमा उठा। आइने को जमीन पर पटक कर वह बोली—"खबरदार माँ, आज से उनका अपमान न करना, नहीं तो मैं पत्थर पर सिर पटककर जान दे दूँगी!"

भूली बात

सोई हुई व्यथा जब अचानक कोई ठेस खाकर उभर आती है तब उस समय उसकी करुण आँखों में तांडव-नृत्य हो उठता है! भूली हुई स्मृति किसी अज्ञात पर्दे को फाड़कर जब झाँकने की चेष्टा करती है, तब मनुष्य का घायल हृदय कराह उठता है। यह विश्व का ध्रुव सत्य है, जो सृष्टि के प्रारम्भ से युग-युगान्तरों के बीच आँख-मिचौनी खेलता हुआ निकल जाता है।

किसी समय मेरे हृदय में भी प्यार का अलख जगा था। उस समय प्राणों में थी स्फूर्ति, और जीवन में था उत्साह! युवक-हृदय चाह उठता संसार को अपनाना। किन्तु आज, जीवन की इस गोधूलि, में सारे उत्साह मिट चुके हैं...... धूमिल हो चुका है प्यार का पर्दा! चाहता हूँ प्यार—उमङ्ग-भरी बातें; मिलती है उपेक्षा—कठोरता। दुनिया की आँखें बदल चुकी हैं। मेरा उपहास कर वह मानो मेरा अस्तित्व मिटाना चाहती है। आह! निर्मम जगत्!

विद्रोही हृदय चाह उठता है सारे बन्धनों को तोड़ देना। चोट खाये हुए क्रुद्ध सर्प की नाईं प्रतिशोध के लिये मेरी आँखों में खून उतर आता है। काश! मुझमें इतनी शक्ति होती!

चुपचाप लम्बी-लम्बी डगें भरता हुआ मोटर-बस पर चढ़ता हूँ और आफिस में जाकर ही गंभीर साँस लेता हूँ; और फिर उन कामों में उलझकर चाहता हूँ दुनिया को भूल जाना। आज से पन्द्रह वर्ष पहले एक मामूली वेतन की क्लर्की पर बहाल हुआ था; किन्तु आज उसी फर्म का हेडक्लर्क हूँ और उससे पाँच गुना अधिक वेतन पाता हूँ। मेरे नीचे के काम करनेवाले क्लर्क उपहास-भरे शब्दों में कहते हैं—'हेडक्लर्क हरीश पूरा कंजूस है। देखते नहीं; इतना अधिक वेतन पाने पर भी इस तरह रहता है, जैसे फर्म का दरवान। न जाने इतने रुपये लेकर क्या करता है! कोई है भी तो नहीं, अकेला आदमी......!'

कैसे समझाऊँ उन्हें? इसमें तो एक ऐसी भयङ्कर ज्वाला का इतिहास छिपा है, जिसने मेरे सारे अरमानों को खाक बनाकर एक वेदना का पहाड़ खड़ाकर रक्खा है ...।

× × ×

सपने की तरह अचानक वह मेरी नजरों के सामने आई। उसकी बाँह खुली थी। भावुकता का स्रोत था उसकी आँखों में। चेहरे पर नृत्य कर रहा था भोलापन। उठकर मैंने सम्मानपूर्वक उसके लिये जगह खाली कर दी। कुछ सकुचाती हुई, कृतज्ञता-भरी आँखों से मेरी ओर देख, वह बैठ गई। यात्रियों की आखें फिर गईं उसकी ओर। वह बैठी थी गम्भीर भाव से। बम्बई का जन-समुद्र सड़कों पर उमड़ा पड़ता था। चकाचौंध करदेनेवाली चमक-दमक से भरा विशाल सुन्दर बम्बई तब भी ऐसा ही था।

हठात् चौंककर वह उठ खड़ी हुई और अधरों पर मुस्कुराहट ला 'धन्यवाद !' कहकर उतर गई। मैं अपनेको खो बैठा। आह! कैसा था वह क्षण! वह मेरी आखों में बस गई। हृदय में छा गया उसका रूप।

दूसरे दिन वह फिर उसी 'बस' पर चढ़ी। मुझे देख कुछ चौंकी, फिर उसके अधरों पर एक हल्की मुस्कुराहट खेल गई—ओह, आप! मैं आज भी आपकी सीट पर अधिकार करने आ गई!'

मुझे वे शब्द इतने सरस मालूम हुए मानो प्रभात का मधुर संगीत हो! युवक-हृदय मचल पड़ा। खिल उठे मेरे कोमल प्राण।

'क्या मैं आपका नाम जान सकती हूँ?'—मेरी ओर मुड़कर उसने प्रश्न किया।

'हरीश शर्मा'—मैंने धीरे से उत्तर दिया। रास्ते भर हम दोनों बातें करते आये। बात ही बात में मुझे मालूम हुआ—'रोज़ी' उसका नाम है, और एक फर्म में टाइपिस्ट का काम करती है। पिता हिन्दुस्तानी थे, पर रोज़ी के पैदा होने के सात साल बाद ही वे मरगये; घर में सिर्फ माँ है, जो प्रायः बीमार ही रहा करती है; और इसीलिये उसे ही घर का खर्च आदि चलाना पड़ता है।

और, जब मैंने उससे कहा कि मैं एक फर्म का क्लर्क हूँ, तब उसने प्रसन्नता प्रकट की और आशा भरे शब्दों में बोली—'अब तो रोज भेंट हो सकेगी।'

इसी तरह एक सप्ताह बीत गया। मेरे हृदय के निकट वह आती हुई मालूम पड़ी। एक दिन वह बोली—'क्या आप मेरे घर पर एक दिन नहीं आ सकते ? मेरी माँ आपको देखना चाहती हैं। मैंने आपके बारे में माँ से बहुत कुछ कह रक्खा है।'

मैंने अवाक् हो उत्तर दिया—'अरे ! मेरे बारे में तुमने अपनी माँ से क्या कह डाला, रोज़ी ?'

वह मुस्कुराती हुई बोली—'कुछ नहीं; सिर्फ अपनी माँ से आपकी मुलाकात कराना चाहती हूँ......कल रविवार है...... कल ही......!'

दूसरे दिन मैं रोज़ी के घर गया। उसकी माँ के चेहरे से यह स्पष्ट दीख रहा था कि वह कभी काफी सुखी रही होगी; किन्तु भाग्य-चक्र में पड़ वह अपने अतीत को खो चुकी है। उसने स्नेह-भरे शब्दों में मुझे 'बेटा' कहा और कभी-कभी आते रहने को कहा। रोज़ी के घर से लौटकर अपने हृदय में एक अद्भुत परिवर्त्तन पाया, जैसे मैं हरीश न रहकर कुछ दूसरा ही रह गया हूँ।

थोड़े दिनों में ही हम दोनों प्रेम सूत्र में बँध गये। रोज़ी मेरी हुई, और मैं उसका। सुनहले दिन बीतने लगे।

आकाश के नक्षत्र मुझपर फूल बरसाते; चन्द्रमा खिलखिलाकर मुझे प्रेम का सन्देश सुनाता; दुनिया मुझे प्रेममय मालूम होती।

रोज़ी की माँ स्वस्थ हो गई थी और हास्पिटल में काम करने पुनः जाने लगी थी।

वह मनहूस दिन मुझे अब भी याद है। दिन कुहेसा से ढका था, और इसके पूर्व हफ्तों सूरज के दर्शन न मिले थे। ठंढी हवा उदास-सी चल रही थी, मानो वह भविष्य की आशङ्का का सन्देश सुना रही हो। ओवरकोट के पाकिट में हाथ डाले मैं अपनी सीट पर बैठा हुआ था। 'बस' नित्य की भाँति चल रही थी। मेरा हृदय न जाने क्यों धड़क रहा था। रोज़ी के चढ़ने का स्थान आया ......किन्तु यह क्या? आज वह न दीख पड़ी! मैं चिन्ता-सागर में गोते लगाने लगा। काम करने में आज कुछ भी जी न लगा। खाया भी थोड़ा ही। रात करवट बदल-बदल चिन्ताओं में बिताई।

सुबह मेरी आँखें लाल थीं, चेहरा फीका था—जैसे मैं अभी-अभी ही बीमारी से उठा हूँ।

जल्दी-जल्दी डग भरता हुआ 'बस' पर चढ़ा। आँखें फिर उसे ढूँढ़ने लगीं; किन्तु आज भी रोज़ी न आई। मेरा हृदय व्यग्र हो उठा।

इस तरह तीन दिन और बीत गये—रोज़ी को मैं न देख सका। चौथे दिन अधीर होकर मैं रोज़ी के घर गया।

......एं! किन्तु यह क्या? रोज़ी को देखते ही मुझे काठ मार गया। उसका चेहरा पीला पड़ा हुआ था। कपोल मुर्झाये हुए थे; आँखें सूनी थीं।

'रोज़ी, तुम चार दिनों से काम करने क्यों नहीं गई?' जाते ही मैंने यह प्रश्न किया।

'अब मैं काम न करूँगी हरीश !' उसके स्वर से वेदना टपक रही थी।

'क्यों रोज़ी ?' भौंचक हो मैंने पूछा।

'क्योंकि मैं अब एक डाक्टर की पत्नी होऊँगी, हरीश !' और दोनों हाथों से मुँह ढँककर वह सिसक उठी।

मैं पाषाण हो रहा, मानो मैं निष्प्राण हूँ ! और, जब मुझे होश आये, तब दुखः-भरे शब्दों में वह कह रही थी— 'तुम जानते हो हरीश, मैंने आजतक अपनी माँ के हृदय को नहीं दुखाया है। उस डाक्टर से विवाह करने के लिये उन्हींका आदेश है। जब मैंने तुम्हारा नाम लिया, तब उन्होंने अनिच्छा प्रकट की।'

मैं वहाँ न ठहर सका। लड़खड़ाते पैरों से लौट आया। चार दिनों के पश्चात् फर्म के एक दूसरे क्लर्क ने मुझे एक लिफाफा दिया और कहा कि एक लड़की इसे आपको देने के लिये कह गई है।

लिखावट देखकर मैं काँप उठा; और धड़कते हृदय से पत्र खोला। उसमें लिखा था—

प्यारे हरीश,

शायद यह मेरा अन्तिम प्रेम-पत्र हो; किन्तु तुम मेरे हृदय में सदा रहोगे। आह ! यह पत्र लिखकर तुम्हें रुला रही हूँ, किन्तु क्या करूँ, कहो। मैं तुमसे विवाह करने में लाचार हूँ।····किन्तु तुम मेरे हृदय के सम्राट् हो—मैं तुम्हारी प्रतिमा को आजीवन पूजूँगी। इस बीसवीं शताब्दी में, यदि मैं चाहती कि माँ से विद्रोह कर तुमसे शादी करूँ, तो कर सकती थी, किन्तु मैं यह नहीं चाहती!

माँ की आज्ञा को ठुकराने का साहस मुझमें नहीं है···इसे दुनिया जो समझे···मुझे इसकी चिन्ता नहीं···प्रेम तो विवाह से बहुत ही ऊँचा है प्रियतम ! तुम मुझे भले ही न पा सके, किन्तु मेरे हृदय पर तुम्हारा पूरा अधिकार है।

कल हम लोगों का विवाह हो गया। जिस समय तुम यह पत्र पढ़ रहे होगे, उस समय मैं सुहागरात बिताने जा रही होऊँगी···।

अन्तिम विदा !···

सदा तुम्हारी—'रोज़ी।'

... .

उफ ! आगे का इतिहास बड़ा ही भयंकर है—बड़ा ही रोमांच-कारी !···किन्तु मेरी रोज़ी न रह सकी अधिक दिन अपने पति के पास। उसे क्षय रोग हो गया और तीसरे वर्ष के अन्तिम सप्ताह में डेढ़ बरस का एक फूल-सा बच्चा छोड़, वह चल बसी !

आश्चर्य ! बच्चे का नाम उसने मेरा ही नाम रक्खा था।

... ...

एक बार उस अभागे बच्चे को देखने गया था। वह ठीक अपनी माँ जैसा था। न रोक सका मैं अपनेको। दो बूँद आँसू ढुलक ही पड़े रोज़ी की याद में।

और, आज एक जमाना बीत रहा है।

वह बच्चा इस समय युनिवर्सिटी का छात्र है। बड़ा ही हँसमुख और सुन्दर है वह।

अपने वेतन का थोड़ा-सा हिस्सा रखकर बाकी उसके पास सब भेज देता हूँ। न जाने क्यों मेरे हृदय को इससे शान्ति मिल जाती है, और एक अनुपम आनन्द का अनुभव होता है।

······किन्तु आह! जब कभी मैं आकाश के नक्षत्रों को देखता हूँ......जब कभी मेरी आँखें चन्द्रमा को आकाश में विहँसते देखती हैं...तो मेरे स्मृति-पट पर नाच जाती है वह भूली बात!

काश! यह भूली बात भल सकता!

अभाव की ज्वाला

पतझड़ के पीले पत्ते झरने के बाद, इधर कुछ दिनों से नई कोपलें फूटी थीं। मखमल से भी चिकने उन पत्तों पर हरे और लाल रंग की छाप कितनी भली मालूम पड़ रही थी! एकटक अविराम गति से नीलिमा उन्हें देख रही थी। नीलिमा को हरियाली और फूलों से प्रेम जो है। आकाश में बादलों की दौड़ होती। रंग-विरंग के ये बादल नीलिमा को बड़े भा रहे थे, किन्तु नीलिमा का यह स्वप्न, अधिक देर तक न ठहर सका। कहाँ वह अपने को पूर्ण पा सकी? यह जो विद्रोह की ज्वाला छिपाये नीलिमा का नारी-हृदय एकान्त में पड़ा सोने का प्रयास कर रहा था, कहाँ सफल हो पाया?

उसी दिन की तो बात है। उसके पति जयराज ने सुबह की डाक से आई हुई एक चिट्ठी पढ़कर कहा था—"सुनती हो नीलू! कल एक मेरा बन्धु आनेवाला है, बड़ा ही जिन्दादिल और चुस्त। तुम देख लेना, हमारे इस मनहूस वातावरण में वह एक जान डाल देगा। और हाँ, सुनो—तुम उससे लजाना नहीं—वह तो मुझसे छोटा है; उसकी फरियाद है, वह अपनी भाभी के हाथ से रोटियाँ खायगा।"

नीलिमा ने सोचा था, अच्छा ही होगा। इस मनहूसी से तो छुट्टी मिलेगी। इन ढ़ाई वर्षों में वह कहाँ खुलकर हँस पायी है?

पति की नीरसता से भी वह ऊब उठी है। मास्टरी का यह शुष्क जीवन कब नीलिमा को अच्छा लगा है ? महीने भर मरने खपने के बाद ४५) के दर्शन होते हैं। इनसे गृहस्थी की गाड़ी किसी तरह चर्र-मर्र करती हुई निकली जा रही है। दोनों के समझौते के बीच यह साल-भर की 'गीता' मानो मरुभूमि की ओयसिस है। बस इन्हीं तीन प्राणियों का यह छोटा संसार लिये, जीवन की किश्ती बही जा रही है। कोई नवीनता नहीं, कोई मौलिकता नहीं; मानो चलना ही इसका ध्येय है, रुकना अभिशाप।

नीलिमा का नारी-हृदय, इस दूर, विजन-प्रदेश में, छटपटाकर रह जाता है। नीलिमा कब ऐसी थी भला ? उसकी चुहलबाजियों से तो सखियाँ तंग आ जाती थीं। क्लास-भर में ऊधम मचानेवाली यह नीलिमा अब क्या वही रह गयी थी ? जब वह दसवें क्लास में पढ़ रही थी, उसका विवाह हुआ; और वधू के रूप में, घूँघट काढ़े अपनी सोलह साल की उम्र में, वह ससुराल आ गई।

नीलिमा के पिता धनी तो थे नहीं; थे मामूली क्लर्क। फिर भला वह नीलिमा का ब्याह ऊँचे और सम्पन्न घराने में कैसे कर सकते थे ? इसलिये वह एक मामूली घर में ब्याही गई था। विवाह होने के बाद ही, किसी दूर गाँव के हाई स्कूल में उसके पति को मास्टरी की एक जगह मिल गई थी। अतः नीलिमा को भी साथ जाना पड़ा था।

शहर के वातावरण में पली नीलिमा अपने सूने और मनहूस जीवन से तंग आ गई थी। दिन भर चुपचाप पड़े रहना और दोनों

शाम रसोई बनाना भर नीलिमा का काम रह गया था। अपने पति में नीलिमा कुछ चाहती थी, जिसका उनमें सर्वथा अभाव था। दिन भर लड़कों और स्कूली-पुस्तकों के बीच रहकर जयराज में शुष्कता आ गई थी। यहीं पर नीलिमा का हृदय, भेद की दीवार से दो टुकड़े हो जाता। यद्यपि जयराज में सदाचार और कर्त्तव्यपरायणता की ठोस भूमि मौजूद थी, किन्तु नीलिमा का हृदय सिर्फ इनसे ही कब सन्तुष्ट होनेवाला था ?

इसलिये जब उसने अपने पति से एक मित्र के आने की बात सुनी तब उसके अधर कुछ प्रदीप्त हो उठे, इस आशा पर कि परिहास और जिन्दादिली की मात्रा उसमें मौजूद है।

दूसरी सुबह जब आकाश की लाली फैलने-फैलने को थी, नीलिमा ने देखा, ठीक वही तो—फोटो से बिलकुल मिलता-जुलता।

दौड़ी-दौड़ी वह पति की चारपाई के पास जाकर बोली—"उठो, जी, वे आ गये।"

"सच ?"—जयराज चादर फेंकता हुआ उठ खड़ा हुआ।

× × ×

चाय का घूँट पीते हुए रतन कह रहा था—"दोस्त, तुम तो पूरे मशीन बन गये। क्या तुम्हारी मनहूसी अबतक नहीं छूटी ?" और कनखियों से नीलिमा की ओर देखता हुआ बोला—"क्यों भाभी, तुम यह सब बरदाश्त कर लेती हो ?"

नीलिमा घूँघट में चेहरे को आधा छिपाये, रोटियाँ सेंकने में मशगूल थी। किन्तु रतन की बातें नीलिमा को कितनी अच्छी लग

रही थीं ? रतन सुना रहा था, अपने इन कुछ वर्षों की दिलचस्प कहानियाँ···कालेज छोड़ने के बाद वह क्या करता रहा···कहाँ-कहाँ घूमता फिरा और किस तरह असहयोग आन्दोलन में भर्ती होकर जेल गया····।

नीलिमा रतन की बातों में डूबी-सी है। रोटियाँ जली जा रही हैं, इसका पता उसे नहीं है। कितने दिनों के बाद नीलिमा का जी आज हल्का-हल्का मालूम हो रहा है !

रतन कह रहा था—"मुझे क्या मालूम था यार कि तुम इस जङ्गल में मास्टर हो ! मैं आज छ महीने से फारेस्ट-डिपार्टमेंट में, तुम्हारी बगल में ही काम कर रहा हूँ, किन्तु मुझे क्या पता था ?"

जयराज चश्मा पोंछते हुए ओठों पर हँसी दाबे कह रहा था—"तुमने देखा नीलू, तुम्हारे लाला जी कितने बातूनी हैं !"

× × ×

और रतन······

वह अवाक् है अपने दूर के रिश्ते की भाभी नीलिमा पर। नीलिमा की बड़ी-बड़ी आँखों के बीच रतन को मालूम होता है, उसने कुछ पा लिया है। रतन सोचता है, यह रहस्यमयी नारी, जिसे प्रकृति ने सारी शक्ति से सँवारा है, कैसी अनोखी है !

उसे लगता है, जिस चिरन्तन सत्य को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आज तक वह चला आ रहा था, वह यह नीलू ही है। वह बरबस नीलिमा की ओर आकर्षित होता जा रहा है। आखिर नीलिमा में ऐसा क्या है भला ?

'साग दूँ लाला जी ?' नीलिमा हौले, शान्त स्वर में रतन से पूछती है।

रतन अवाक् उसके मुख की ओर देखता रह जाता है। लज्जा से नीलिमा का चेहरा लाल हो उठा है। वह टूटे स्वर में कहती है—'मैं पूछती हूँ लाला जी, साग लोगे ?'

'साग……अरे……नहीं भाभी…!' अपनी घबड़ाहट को बचाने का रतन व्यर्थ प्रयास कर रहा है !'

और, दूसरी ओर जयराज रोटी का एक टुकड़ा उठाते हुए कह रहा है—'नीलू, तुम्हारे लाला जी पूरे भावुक हैं। कालेज में ये 'कविजी' के नाम से मशहूर थे। इनकी कवितायें तुमने नहीं सुनीं ? रतन, जरा सुनाना तो वह कविता…'सजनी, जागी फिर वह प्यास……!'

× × ×

नीलिमा भी धड़कते हृदय से सोचती है, रतन में क्या है ऐसा भला ? अभी तो पूरा एक हफ्ता भी उसके यहाँ आये नहीं हुआ, फिर क्यों वह उसकी ओर झुकती जा रही है ?

किन्तु अपने हृदय से वह कहाँ समुचित उत्तर पाती है ? हृदय की इस दुर्बलता को वह कैसे रोके ? यह जो एक युग की घोर तृष्णा, एकाएक, विद्रोह कर उठी है, उसे वह कैसे दबाये ?

उसके पति जयराज स्कूल गये थे अपनी ड्यूटी पर। रतन लेटा मोंपासा का एक उपन्यास पढ़ रहा था। किन्तु उसका मन

पुस्तक के पन्नों में न था। रह-रह कर वह नीलिमा के कमरे की खिड़की की ओर देख लेता था।

नीलिमा चाय का कप लिये उसके कमरे में आयी थी। रतन कप लेकर कह रहा था—'बैठो नीलू।'

इस सम्बोधन को सुनकर नीलिमा सन्न रह गई थी। उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो रतन उसके एक युग का परिचित है।

रतन चाय का घूँट पीते कह रहा था—'नीलू, मैं एक अभाव के मरुस्थल में तड़प रहा था...और इसके छुटकारा के लिये मैं बेचैन था। इसे दुनिया जो समझे नीलू, किन्तु मैं इसमें पाप नहीं देखता।'

नीलिमा स्तब्ध बैठी है। रतन का यह गम्भीर बदलता हुआ चेहरा और छिन्न-भिन्न स्वर उसके हृदय में एक कसक उत्पन्न कर रहा है। उसे लगता है, वह उससे कह दे—'देवता, मैं भी ऐसी ही मूर्ति अपने इन उन्नीस वर्षों से खोज रही थी; मेरे प्राण तुम्हारे प्राणों से जुड़ते मालूम पड़ रहे हैं। तुम वही हो, ठीक वही, जिसे हृदय-मन्दिर में मैंने स्थान दिया था।'

रतन नीलिमा के पास आकर बोला—'नीलू, इन दिनों मैंने तुम्हें पहचान लिया है।'

नीलिमा चुप खड़ी थी।

'किन्तु नीलू, मैं दोषी नहीं होना चाहता···अपने प्रिय मित्र के प्रति विश्वासघात करूँ, यह मुझसे नहीं होगा···मैं आज जा रहा हूँ नीलू···।'

'आज...?' नीलू का स्वर जैसे टूट पड़ा था।

'हाँ नीलू, दुर्बलता पर मैं अब तक अधिकार किये रहा, फिर अपने पर उसको कब्जा क्यों करने दूँ ?...जाने दो नीलू, मुझे बड़ी खुशी है...प्रसन्नता के भार से मैं दबा जा रहा हूँ...मैंने अपने अभाव को ढूँढ़ निकाला है जो....!"

× × ×

और, रतन के चले जाने पर नीलिमा सोचती है, क्या वह स्वप्न था ?

बिस्कुट का डिब्बा

प्रताप नित्य की भाँति आज भी आफिस जा रहा है। वह चला जा रहा है, और साथ-साथ उसके मस्तिष्क में कितनी बातें आ-जा रही हैं! यह मोड़ है; इस मोड़ से सीधे पूरब की ओर जो सड़क गई है, उसीके आखिरी हिस्से में बड़ा-सा चमचमाता हुआ बिल्डिंग है। वह एक बैंक है। प्रताप उसी बैंक में क्लर्क है और महीने के पहले सप्ताह में तीस रुपये तलब पाता है।

वह अकेला उसमें काम करता है, सो बात नहीं। उसके ऐसे सात आदमी और काम करते हैं। दस बजे से चार बजे तक उन्हें सिर उठाने की फुर्सत नहीं रहती; और चार बजे के बाद मुर्झाये-से वे घर लौट जाते हैं।

प्रताप कुछ सोच रहा है जरूर; किन्तु न तो वे गंभीर बातें हैं और न कोई फिलासफीवाली बात। अगल-बगल के मकानों पर चिपकाये नये-पुराने सिनेमा के पोस्टरों को पढ़ता जा रहा है और कभी-कभी तो उन्हें अधूरा ही पढ़कर कुछ सोचने लगता है।

सुनन्दा की बात भी कभी-कभी वह दुहरा देता है, और चाहता कि सुनन्दा की बात लौटते समय तक याद रहे। यह सुनन्दा उसकी

पत्नी है, जिसे तीन साल पहले वह ब्याह कर अपने घर ले आया था। इस बीच उसे एक लड़का भी हुआ है, जो अब साल डेढ़ साल का हो गया है।

आफिस जाने के समय सुनन्दा ने कहा था—"सुनते हो, आने लगो तो लल्ला के लिये एक डिब्बा बिस्कुट ले आना। देखो—भूलना नहीं; यह अभी ही कहे देती हूँ।"

तो प्रताप चाहता है कि सुनन्दा की यह बात उसे याद रहे : इस न याद रहने के कारण सुनन्दा से वह कितनी बार झिड़कियाँ भी खा चुका है!

और, प्रताप का आफिस अब आ ही पहुँचा है।

× × ×

किन्तु, एक बात हो गई।

जिस बैंक में वह क्लर्क था, उसी में रामधन उसका दरवान था। अनेक वर्षों से वह इसमें दरवानी करता आ रहा था। झुर्रियों से भरा चेहरा और माथे की लकीरें यह कह रही थीं कि उसने दुनिया देखी है।

उस दिन एकाएक वह प्रताप के सम्मुख आ खड़ा हुआ और बोला—"बाबू जी......?"

प्रताप ने कलम रोकते हुए सिर उठाकर पूछा—"क्या है रामधन?"

"बाबूजी"—रामधन का कातर स्वर फैला—"सात साल का मेरा फूल-सा बच्चा बीमार है। बारह रुपये पाता हूँ—किसी तरह

गुजर चलता है। मेरे हाथ अभी खाली हैं; और तलब मिलने में भी चार-पाँच रोज की देर है। कल सुबह से ही बुखार तेजी पर है। बाबूजी...अधिक आपसे नहीं माँगता। सिर्फ दवा का दाम, अठारह आना चाहता हूँ। तलब मिलते ही दे दूँगा......।"

प्रताप ने जेब में हाथ डाला। एक रुपया और चाँदी की एक छोटी चवन्नी पड़ी थी। प्रताप ने हाथ बाहर निकालना चाहा। रामधन का मुर्झाया मुख खिलने को आया...कि सुनन्दा के वाक्य गूँज गये—"सुनते हो, आने लगो तो लल्ला के लिये एक डिब्बा बिस्कुट ले आना। देखो, भूलना नहीं; यह अभी कहे देती हूँ।"

हाथ से रुपया छूट पड़ा। खाली हाथ जेब से बाहर आया कलम से कागज को कुरेदते हुए प्रताप बोला—"रामधन...मेरे पास सर्फ एक चवन्नी है—किसी और से माँग लो...।"

रामधन की आखें निराशा से भरने को आईं। बोला—"सब से तो माँग चुका बाबूजी...सबोंने तो यही कहा कि रुपये खर्च हो गये है। आज चार रोज से उसके मुह में एक बूँद दवा भी नहीं पड़ी है......!" और, लड़खड़ाते पैरों से रामधन लौट गया।

× × ×

छुट्टी हुई। प्रताप लम्बे डग भरता बाजार की ओर बढ़ा। अन्यमनस्क-सा वह कुछ सोचता जा रहा था। उसे अपने-आप पर ग्लानि और कुछ खीझ-सी आ रही थी......छिः! मेरा देवत्व किस तरह हार गया!"......

एक दूकान के निकट गया। बोला—"एक डिब्बा ब्रिटेनिया बिस्कुट...!"

डिब्बा उसने हाथ में ले लिया। जाने किस दुर्बलता से उसके हाथ काँपने लगे......"रामधन, मेरे पास सिर्फ एक चवन्नी है, किसी और से माँग लो......सबसे तो माँग चुका बाबूजी...आज चार रोज से उसके मुँह में एक बूँद दवा भी नहीं पड़ी है......!"

हृदय में जोरों का एक धक्का लगा। अपनी दुर्बलता छिपाने को उसने पूछा—"क्या दाम है इसका ?"

"चौदह आने"—दूकानदार ने उत्तर दिया।

"अरे...मैं तो रुपया ही घर पर छोड़ आया भाई ! इसे रहने दो...आकर ले जाऊँगा।"

और, बरबस उसके पैर आफिस की ओर चल पड़े। रामधन थके पंछी की तरह बढ़ रहा था। प्रताप ने कहा—"रामधन... ओ रामधन ?"

रामधन मुड़ा। एक निश्चित स्वर में बोला—"क्या है बाबूजी ?"

"मुझे माफ करो रामधन...मैं उस समय झूठ बोल गया था। यह लो सवा रुपया...दवा ले आना...।"

रामधन विस्मयविमुग्ध-सा प्रताप की ओर देखता रह गया।

× × ×

प्रताप मुँह से सीटी बजाता हुआ सानन्द घर पहुँचा। उसे मालूम हो रहा था मानो कोई एक युग की खोई वस्तु मिल गई हो !

सुनन्दा द्वार पर ही खड़ी थी। छूटते ही बोली—"क्यों जी, बिस्कुट का डिब्बा ?"

"अरे...लो, सच कहता हूँ, लाना भूल गया।" एक डग पीछे हटकर और इस तरह मुँह बनाकर गम्भीर भाव से प्रताप ने कहा, मानो वह सचमुच लाना भूल गया है !

"फिर भूल गये ?"—सुनन्दा उबल पड़ी—"तुम कब तक यों भूलते रहोगे ? तुम्हारे ऐसा भुलक्कड़ आदमी तो मैंने आज तक देखा ही नहीं...!"

"सच ?" प्रताप ने अपनी आखों को सुनन्दा की बड़ी-बड़ी आखों में डालकर मुस्कुराते हुए पूछा।

"अरे धत् !"—झुँझलाई और खीझी सुनन्दा भी लजाकर विहँस पड़ी !

जवाब

वह मानो वन-देवी थी, अल्हड़, भोली और सुंदर। लताएँ तथा नदियाँ उसकी सखियाँ थीं, और दूर-विस्तृत पर्वत-श्रेणी उसकी रक्षक। मोह और ममता की गोद में पली वह उस वृद्ध किसान की आँखों की लाड़ली थी।

"किरण ?"

"हाँ बाबा !"

"तू बैठी-बैठी क्या सोचती है बेटी ?"

"कुछ भी तो नहीं बाबा"—जरा चौंककर वह उत्तर देती। वृद्ध के माथे पर सिकुड़न पड़ जाती। वह कुछ सोचने लगता।

"जा बेटी, जरा गायों को तो ले आ। न जाने कहाँ चली गईं।" और, वह अपने काम में जुट जाता।

हल्दी के फीके रंग से रँगी हुई उस कृषक-कन्या की साड़ी हवा में लहरा उठती—डूबते हुए सूर्य्य की लाल किरणें उसके कपोलों को चूमने लगतीं।

वह अप्रतिभ-सी मुस्कुरा उठती !

... ...

गुंजन उसका आराध्यदेव था! सुंदर, भोला और बलिष्ठ। बचपन से दोनों खेले-कूदे और लड़े-झगड़े। गुंजन गाँव के चौधरी का एकमात्र दुलारा लड़का था—बड़ा ही हँसमुख और चंचल।

वह तैरता हुआ नदी के बीच चला जाता। किरण चीख उठती। वह मुस्कुराता हुआ पुछता—"किरण, मैं डूब जाऊँ?" और कुछ क्षण तक डुबकी लगाए रहता।

किरण घबरा कर चिल्ला उठती—"गुंजन?—आओ, नहीं तो मैं भी डूब मरूँगी।"

मुस्कुराता हुआ गुंजन निकल आता। वह खिल उठती।—और इसी तरह न जाने कितने सुनहले दिवस बीत जाते।

यौवन ने दोनों पर अपना जादू डाला। दोनों स्तब्ध हो रहे; फिर उन्होंने आँखें नीची कर लीं।

"किरण!"

"हाँ!"

"तुम कितनी सुंदर हो!"

"हिश......!"—कहकर वह जाने का उपक्रम करती।

"मैं तुमसे ब्याह कर लूँगा।" गुंजन मुस्कुरा उठता।

"मुझे जाने दो।"

"तुम मुझसे ब्याह करोगी?"

"नहीं।"

"नहीं?"

"नहीं।"

"नहीं ?"

और वह चलने को तैयार होती। गुंजन रूठकर कहता—"अच्छा जाओ, मैं भी तुमसे ब्याह न करूँगा—कश्मीर से तुमसे भी सुंदर एक दुलहिन ले आऊँगा।"

"सच ?"—वह काँपते हुए स्वर में पूछती।

गुंजन अट्टहास कर उठता। फिर कहता—"तुमसे सुंदर दुनिया में क्या और भी कोई है ?

"चलो, रहने भी दो—मुझे बाबा के लिये रोटियाँ बनानी हैं।" और वह चल देती।

... ...

एक दिन किरण के बाबा ने गुंजन के पिता के पास जाकर कहा—"चौधरी, गुंजन की सगाई किरण से कर दो न ?"

"हाँ, यह तो ठीक है"—चौधरी जरा रुकता हुआ बोला—मुझे कोई·········किंतु·········।"

"क्या ?"

"गुंजन पर मुझे पाँच सौ रुपये मिल रहे हैं।"

"पाँच सौ ?" भोला कृषक अवाक् हो दुहरा उठा।

"हाँ—यही······अरे उस गाँव का जमींदार जो है·······।"

"तब ?" निराश-भरी करुण आँखों से उसने पूछा।

"तब तुम्हें दूसरी जगह लड़का खोजना चाहिये"।

"·························!"

... ...

आज किरण के बाबा का चेहरा पीला पड़ा हुआ था। आँखों में व्यथा थी। अभी-अभी ही तो वह चौधरी के घर से लौटकर आया था; किन्तु बिना मुँह-हाथ धोये वह अपनी खाट पर लेट रहा, मानो कोई गहरी वेदना उसके हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर रही हो!

किरण आई—बाबा का चेहरा देख ठिठक-सी गई!

"बाबा!"

"हाँ बेटी।"—स्वर को उसने काफ़ी कोमल बनाना चाहा, किंतु सफल न हो सका। आखिर वेदना आँखों से टपक ही पड़ी।

"तुम इतने उदास क्यों हो?"

"नहीं तो।"

दोनों क्षण-भर चुप रहे। वृद्ध इस बार गला साफ कर बोला—"अगले लगन में तेरा विवाह कर दूँगा बेटी.........तू चली जायगी, इसीलिये कुछ उदास था।"

किरण की लजीली आँखें भूमि चूम रही थीं।

... ...

"मैं उससे शादी नहीं करूँगा। गुंजन जरा कड़े स्वर में बोला।

चौधरी गुम-सुम खड़ा रहा। पुत्र की दृढ़ता देख वह सिहर उठा; फिर रोब-भरे शब्दों में बोला—"तो किससे शादी करेगा?—किरण से?"

गुंजन मौन रहा।

"यह नहीं होने का—ऐसे बड़े जमींदार को छोड़ मैं उस कंगाल की लड़की से ब्याह न होने दूँगा।"

"तो मैं भी शादी न करूँगा।"—उसी स्वर में गुंजन बोला और तेजी से कमरे के बाहर चला गया।

पुत्र की ऐसी दृढ़ता देखकर चौधरी के पैरों से जमीन खिसक गई।

संध्या समय चौधरी किरण के बाबा के पास जाकर बोला—"मैं अब गुंजन की शादी किरण से ही करूँगा।"

"किन्तु मैं तो यह न होने दूँगा।" किरण के बाबा का मुख आत्माभिमान से चमक उठा। चौधरी जैसे आसमान से गिर पड़ा।

भर्राए गले से पूछा—"क्यों?"

"इसलिये कि तुमने भी एकदिन ऐसा ही कहा था।"

चौधरी स्तब्ध रह गया। उसे यह आशा न थी। और उसी क्षण मुँह लटकाये वह वापस लौट आया।

साधना

दैव का सबसे बड़ा प्रहार जो साधना पर पड़ा, वह था, उसका उन्नीसवें वर्ष में विधवा हो जाना। विवाह हुए अभी पूरे तीन साल भी न बीत पाये थे, किन्तु विधाता का यह चक्र चल ही पड़ा। साधना इस खबर से सन्न रह गई। उसे क्या स्वप्न में भी ऐसा अनुमान हो पाया था? गोरे-गोरे हाथों से जब चूड़ियाँ फोड़ दी गईं तब साधना की आँखों से दो गरम बूँद गिरकर ही रहीं। साधना ने एकान्त में, पति का फोटो सामने रखकर रुँधे गले से कहा—'देवता तुम्हें क्या यही मंजूर था? तुम ऐसे निर्मोही क्यों हो गये देव?'

और, साधना की आँखों के आगे प्यार का वही अनुपम चित्र मानो विहँसते हुए कह रहा था... 'साधना, तू रोती है? तू तो कभी ऐसी न थी साधना! तेरे अधरों से तो हँसी फूट पड़ती थी...आज तुझे क्या हो गया है?'

साधना ने निश्चय कर रक्खा था, अपनेको वह भगवान् के चरणों में लगा देगी; इस तरह जीवन के दिन वह वैराग्य और भक्ति में व्यतीत कर देगी। और साधना सचमुच बदल गई थी। साधना के अधरों पर अब फूटती हुई मुस्कान न थी; उसकी आँखें चंचल

और शोख न रह गई थीं, बल्कि एक सूनापन और व्यथा ने उनके स्थान पर अधिकार कर रक्खा था।

अपनी सुफेद साड़ी में ढँकी साधना एक तपस्विनी की तरह दीखती थी; किन्तु उसके रूप ने कहाँ उसका साथ छोड़ा था? साधना का रूप वैराग्य के इस वेष में और भी निखर उठा था। हाँ, साधना आकाश-सी गम्भीर, प्रातःकाल की स्फुटित गुलाब की कली की तरह खिल उठी थी।

आधुनिक सभ्यता के वातावरण में पली साधना सचमुच एक रहस्य की वस्तु बन गई थी। पिता थे नामी डाक्टर और एक प्रतिष्ठित सुधारक।

साधना के पिता ने देखा, वह कितनी बदलती जा रही है! उनके हृदय पर एक चोट-सी लगी। अभागिन ने लड़कपन में ही माँ को खोया और अब ईश्वर से क्या इसका सुहाग भी न देखा गया?

साधना के पीछे जाकर वे खड़े हो गये। यह जो साधना देवी के सम्मुख तन्मय हो, उपासना कर रही है, किसके लिये भला?

हौले, धीमे स्वर में पुकारा उन्होंने—'बिटिया···?'

सिर का आँचल ठीककर साधना बोली—'बाबूजी···आप खड़े हैं?'

'हाँ बिटिया, देखता हूँ···दिन-दिन तू कितनी पीली पड़ती जा रही है।'

'नहीं तो, बाबू जी···।'—अपनेको सँभालती हुई साधना बोली।

'समय काटने के लिये तुझे कुछ उपन्यास ला दूँ बेटी···?'

'उपन्यास ?'—साधना जैसे चौंक उठी हो—'नहीं बाबू जी, मेरे पास गीता तो है ही···।'

'गीता ?'—साधना के पिता अप्रतिभ हो उठे—'तो अब तू गीता पढ़ेगी बिटिया ?'

'हर्ज ही क्या है बाबूजी ?—साधना गम्भीर भाव से उत्तर देती है।

× × ×

और, साधना अवाक् हो सोचती है, इस विषाक्त वातावरण को वह कैसे बदले ? सामने के घर से वासना से लिपटी गान की ध्वनि आ ही जाती है। रिकार्ड बज रहा है।

'प्रीतम से प्रीत निभाऊँगी,

पाकर उनको खो जाऊँगी !'

साधना सोचती है, यह क्या सचमुच मेरा उपहास हो रहा है ?···क्यों मेरे चारों ओर की हवा में यह विषैला भाव घुस आया है ?···क्यों मेरे हृदय का ज्वार इतना उफन पड़ रहा है ?····

रिकार्ड बज रहा है :—

'नगर-नगर और डगर-डगर
साजन को ढूँढ़न जाऊँगी,
ले के कमण्डल, छोड़ के मंडल
राजपाट को तज दूँगी;
सब खोकर उनको पाऊँगी····!'

'उफ़ !'—साधना जैसे क्लान्त हो पड़ी है···क्या करे वह ?··· और साधना भी अपने रिकार्ड को चढ़ा देती है ताकि यह गन्दी हवा उसे छू न सके···रिकार्ड बज उठता है :—

'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई !'

और, साधना को लगता है, मानो पवित्रता की लहरें उसके चारों ओर फैल गई हैं···वह भी रिकार्ड के स्वर में सुर मिला कह उठती है:—

'जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई—!'

[२]

साधना के पिता को भारी दुःख है; यह जो उनकी एक-मात्र सन्तान है, वह भी ऐसी निकल गई ? अभागिन ने अभी क्या सुख देखा था ?

एक दिन साधना के पास जाकर बोले—'बिटिया, विभूति को तो तुम न भूली होगी···अरे, वही अनुपम बाबू का लड़का, जो लड़कपन में कभी-कभी उनके संग यहाँ आया करता था ! हाल ही में वह शान्तिनिकेतन से शिक्षा पाकर लौटा है···मैंने उसे कल चाय पीने बुलाया है···बड़ा ही सुशील और शान्त युवक है, बेटी···।'

साधना चुप थी।

उसके पिता कह रहे थे—'वह एक बड़ा सुन्दर चित्रकार हो आया है···वह अपने साथ एक अलबम भी लायगा···पेरिस की चित्र-प्रदर्शिनी में उसका चित्र पुरस्कृत हुआ है। वह अवनीन्द्र-नाथ का प्रधान शिष्य रह चुका है न ?···उसने मुझे एक तस्वीर

दिखलाई थी···अमासंध्या !···सच पूछो बेटी, इतना सुन्दर चित्र मैंने आज तक न देखा था···एकटक देखता ही रह गया !'

साधना चुप सुन रही थी।

दूसरे ही दिन विभूति चित्रों का अलबम लिये आया। उसने एक बार उड़ती निगाहों से साधना की ओर देखा था; वह सचमुच कुछ क्षणों तक के लिये चित्र-लिखित-सा खड़ा रह गया। यह तो कल्पना से भी सुन्दर कोई मूर्ति थी ! और साधना ने एक बार सूनी आँखों से विभूति को देख आँखें नीची कर ली थीं।

× × ×

दिन जैसे पहाड़ हो गये थे।

इन कुछ दिनों में साधना का हृदय हलचलों से भर गया था। वह बचना चाहती थी; एकान्त एक कोने में अपनी वेदना छिपाये। दुनिया के सम्मुख वह अपनेको प्रकट नहीं करना चाहती थी।

एक दिन विभूति ने उसे पुकारा था,—'साधना···!'

साधना स्तब्ध रह गई थी। इस 'साधना' के स्वर में तो उसके पति की आवाज थी। वह काँपते स्वर में बोली—'देखिये विभूति बाबू, आप मुझे इस तरह न पुकारा करें।'

विभूति जैसे आकाश से गिर पड़ा था—'फिर मैं आपको किस तरह पुकारूँ ?'

'यह मैं नहीं जानती।'—और साधना आँसू छिपाने को मुड़ पड़ी थी।

[३]

किन्तु साधना के पिता को अब और बर्दाश्त नहीं हो रहा है। क्या साधना का जीवन इसी तरह घुल-घुल कर कटेगा? वे देख रहे हैं, साधना कैसी पीली हो चली है, और अब इसलिये उनसे अधिक नहीं सहा जाता।

एक दिन साहस कर उन्होंने विभूति से कहा—'बेटा, तुम्हें मेरी एक लाज रखनी होगी।'

विभूति सर झुकाये बैठा था।

'तुम्हारे पिता अनुपम बाबू हमारे अभिन्न मित्र थे; आज वे नहीं हैं। बेटा, तुम्हें साधना का भविष्य बचाना होगा।'

'साधना का?' विभूति का हृदय आनन्द से धड़कने लगा था। उसके ललाट से पसीने की बूँदें टपकने लगी थीं···तो उसका स्वप्न क्या यथार्थ होने जा रहा है? ओह! साधना के बदले वह दुनिया की सारी कामनाओं को ठुकरा सकता है···साधना तो उसके भावों की रानी हो चुकी है।

धीमे स्वर में विभूति बोला—'मैं भी आपसे यही कहनेवाला था।'

वृद्ध की आँखें चमक उठीं—'तुमने मुझे बचा लिया बेटा!'

× × ×

किन्तु, अब चित्र का दूसरा पहलू सामने था।

साधना क्या इसे स्वीकार करेगी? वह कैसी बदलती जा रही है।

साधना के निकट जाकर वे बोले—'बिटिया, मुझे एक बात कहनी है।'

साधना शान्त खड़ी थी।

उसके पिता कह रहे थे—'बेटी, पुराने संस्कारों को तो तुम पहले नहीं मानती थी···स्वयं तुमने विधवा-विवाह के पक्ष में···।'

'बाबू जी···?'

स्वर सुनकर साधना के पिता सिहर उठे। साधना का चेहरा एकबारगी पीला पड़ गया था।

'नहीं बेटी, क्या तुम मुझे जीने न दोगी? मुझसे तो अब और बर्दाश्त नहीं होता···।'

साधना की आँखें भर रही थीं।

'बोलो बेटी, मैं विभूति को वचन दे आया हूँ।'

'विभूति? वचन??···पिता जी!"—साधना के मस्तिष्क में मानो तूफान उठ रहा था।

कुछ क्षणों तक साधना अपने पिता की करुण मुद्रा की ओर देखती रही; फिर क्षीण स्वर में बोली—'हाँ बाबू जी, मेरा भी जी अब इस अभागी जिन्दगी से ऊब उठा है।

[४]

वैदिक रीति से साधना का ब्याह हो रहा था। शहनाई की करुण आवाज बड़ी सम्मोहक थी। इस अवसर पर शहर के गण्य-मान्य पुरुष आये थे। स्वयं शान्तिनिकेतन से गुरुदेव ने इस आदर्श विवाह की मंगल-कामना के सन्देश भेजे थे।

साधना आज बड़ी खुश थी। उसके चेहरे पर आज प्रसन्नता अठखेलियाँ खेल रही थीं। एक अलौकिक भाव उसके चेहरे पर अंकित था।

पिता से उसने कहा—'बाबू जी, आज मेरा ब्याह हो रहा है न ?'

'हाँ बेटी।'—बूढ़े की आँखें सजल थीं।

'आज मैं ससुराल जाऊँगी न ?'

'हाँ बिटिया···।'—उसके माथे पर हाथ फेरते हुए उसके पिता बोले।

× × ×

उमंगों और आशाओं को लेकर, हल्के पदचाप से विभूति साधना के निकट पहुँचा। किन्तु उसके पैर जैसे ठिठक पड़े! यह क्या वह स्वप्न देख रहा है ?

साधना की आँखें मुँदी जा रही थीं। सामने एक सुन्दर फ्रेम में एक भव्य युवक की मूर्ति झाँक रही थी, जो फूलों से ढँका थी। धूप-दीप जल रहे थे; और उसके निकट विष की एक छोटी शीशी चमक रही थी।

'आप आ गये ?'—एक करुण मुस्कुराहट अधरों पर ले साधना छिन्न-भिन्न स्वर में बोली—'अच्छा किया, चले आये···मैं अब जा रही हूँ···आपने मुझको समझने में भूल कर दी विभूति बाबू!'···

विभूति का सारा शरीर मानो सन्न रह गया। हाथ में जो जूही की माला थी, फिसलकर गिर पड़ी।

× × ×

और, बहुत दिनों बाद आज फिर रिकार्ड बज रहा था। रात्रि के उस द्वितीय प्रहर में सामने के घर से ध्वनि टकराकर प्रखर होती जा रही थी :—

'नगर-नगर और डगर-डगर साजन को ढूँढ़न जाऊँगी;
प्रीतम से प्रीत निभाऊँगी···!'

———

संक्षिप्त-कथा

कमरा पुराना है। दीवारें न जाने कब से बे-पुती हैं। उनपर कोयले द्वारा खींची लकीरें साफ नजर आती हैं। जगह-जगह मिट्टी बाहर हो पड़ी है और आलमारी के शीशे भी टूटे हैं। इसी कमरे में विश्वनाथ आज चार साल से रह रहा है। वह है, उसकी पत्नी है और दो बच्चे हैं। पत्नी का नाम सरस्वती है। सरस्वती गर्भवती है और तीसरा बच्चा भी पेट से बाहर आने को है।

विश्वनाथ मैट्रिक फेल है। दो साल में भी जब वह मैट्रिकुलेट न हो सका, तब पिता ने हार मानकर उसे उसी प्रेस में जगह दिला दी, जहाँ वे तेरह साल से प्रूफरीडर थे। उसी साल उन्होंने अपनी एकमात्र सन्तान का ब्याह कर दिया और जीवन की जमा-पूँजी १५०) रुपये भी उसी शादी में खर्च हो गये। बहू आई। किन्तु विश्वनाथ के पिता सन्तान-सुख पाने की प्रतीक्षा में न रहकर उसके दूसरे ही साल चल बसे। अब विश्वनाथ अपने पिता के पद पर स्थित है।

सरस्वती का रंग साँवला हो चला है। बहुत संभव है, इसके पहले वह कुछ साफ हो। सुबह से रात तक उसे छुट्टी नहीं मिलती। घर बुहारना, रसोई पकाना, बर्तन माँजना, अपने पति के कपड़े साफ

कर देना और जरा सा घूँघट डालकर पानी ले आना इत्यादि सभी काम उसे स्वयं करने पड़ते हैं। उसकी उम्र अधिक न होगी, किन्तु अभी से ही वह पीली पड़ती जा रही है। आँखें बड़ी-बड़ी हैं और जब वह हँसती है तो गालों में गड्ढे पड़ जाते हैं।

आजकल विश्वनाथ १७) मासिक पाता है। १५) पर उसकी बहाली हुई थी। कमरे का किराया ४) है। पहली तारीख को मकान-मालिक का दरवान ठीक पाँच बजे शाम को हाजिर हो जाता है। आँधी हो या तूफान, इस नियम में आज तक कभी व्यतिक्रम नहीं देखा गया है।

कड़वी चाय पीकर और रात की बासी रोटी खाकर वह प्रेस चला जाता है। बारह बजे छुट्टी मिलती है, भोजन के लिये। भोजन कर वह फिर प्रेस जाता है और पाँच बजे मुरझाया-सा घर लौट आता है। यही रोज का धन्धा है। प्रेस से घर आकर वह सौदा लाने बाजार जाता है और दिया-बत्ती जलने पर सौदा लेकर घर लौटता है। चूल्हे के पास खाट पर बैठ बच्चे को गोद में लेकर वह सरस्वती से बातें करता है। बहुत सी बातें। अधिकांश निरर्थक और काल्पनिक होती हैं। ......अगर इस महीने में पूरा तलब मिला तो मुन्नी के लिये एक फ्रॉक और राजू के लिये एक पैंट लाऊँगा ... ... तुम्हारे लिये भी एक अच्छी साड़ी जरूर खरीदूँगा......अरे वही हरे रंग की...और कानों के इयररिंग के लिये भी ऑडर दे दूँगा... अपने लिये ?...ऊँह मुझे कुछ न चाहिये। हाँ, एक कंघी जरूर लाऊँगा, क्योंकि वह बहुत पुरानी हो गई है।'

रोटी उलटती हुई सरस्वती सभी बातें सुनती है। चूल्हे को फूँकने के कारण बहुत-सा धुआँ उसकी आँखों में भर जाता है, और पानी की कुछ बूँदें कोने में इकट्ठी हो जाती हैं। सरस्वती खीझकर कहती है—"और पंखा··· ?"

"हाँ-हाँ ठीक कहा। रोज भूल जाता हूँ,—कल जरूर लेता आऊँगा।"

किन्तु ऐसी प्रतिज्ञा कभी सच होकर नहीं रही है। विश्वनाथ कभी दिया-सलाई लाने को भूल जाता है और कभी कुनैन का मिक्सचर लाने में ही गलती हो जाती है !

... ...

राजू और मुन्नी की बीमारी कभी छूटती नहीं। राजू तीन साल का है और मुन्नी डेढ़ साल की। एक के बाद दूसरी सन्तान अवश्य बीमार पड़ जाती है। अस्पताल की दवा में केवल पानी रहता है, यह सरस्वती का दृढ़ मत है। फलतः ३-४ रुपये दवादारू में खर्च हो जाते हैं। और इस तरह देखा गया है कि महीने के अन्तिम दिन में मोदी का बिल कभी घटा नहीं, बल्कि बढ़ता ही गया है।

आज सबेरे जब विश्वनाथ खद्दर की मैली कमीज पहन रहा था तो सरस्वती ने टोका—"इतने सबेरे कहाँ?"

"आजकल काम की भीड़ है। अखबार का विशेषांक निकल रहा है।"

"लौटते समय राजू के लिये एक कमला नीबू और लाई...!"

"अच्छा।" कह टूटे चप्पल को पैर से घसीटते विश्वनाथ बाहर हो गया।

इस बार प्रेस में नया मैनेजर आया है। पूरा गुस्सैल। पुराना मैनेजर भला आदमी था। वह कर्मचारियों से अच्छा बर्ताव करता था। यह पूरा काइयाँ है।

"आपको हमने छः बजे ही बुलाया था"—विश्वनाथ को देखते ही वह गुर्राया—"और आप आते हैं छः बज कर सैंतीस पर! अब वह पुरानी चाल यहाँ नहीं चलेगी। आपलोगों ही के कारण प्रेस को घाटा होता रहा। यह मेरी चेतावनी है। एक मिनट की देर भी मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता ···।"

विश्वनाथ चुपचाप अपने काम में लग गया।

उसने रास्ते में सोचा था, आज वह कुछ 'ऐडवांस' माँगेगा। नीबू और लाई खरीदनी है; रात की तरकारी के पैसे भी नहीं हैं—टूटे चप्पल को सिलाना है! किन्तु सारी कल्पनाएँ व्यर्थ गईं। अब वह किस साहस से माँग सकेगा?

दोपहर का खाना खाने जब वह गया तब देखा, सरस्वती बिछावन पर कराह रही है!

वह समझ गया। यह आखिरी महीना था। बोला—"सरस्वती ···?"

"आ गये ··· ओह, बड़ा दर्द है जी, अस्पताल में भर्ती करा दो।"

किन्तु अस्पताल में जाने पर मालूम हुआ, वहाँ सीट न थी।

लेडी-डाक्टर ने एक बार विहंगम दृष्टि से विश्वनाथ की वेश-भूषा को देखा और फिर अपने काम में मन लगा दिया। बिना सिर उठाये वह बोली—"(आई एम सॉरी) मुझे खेद है।"

उसी कमरे को प्रसूति-गृह बनाया गया। राजू और मुन्नी का जन्म उनके नाना के यहाँ दिहात में हुआ था। किन्तु अब चूँकि वे इस दुनियाँ में नहीं हैं, अतः इस बार सरस्वती अपने भाई और भौजाई के सिर पर बोझ नहीं बनना चाहती थी।

बच्चा निकला, किन्तु मरा हुआ। सरस्वती की दशा गंभीर होती गई। पड़ोसियों ने सलाह दी—"किसी अच्छी, लेडी-डाक्टर को बुलाइये।"

किन्तु यथार्थ की दुनिया में रुपया सस्ता नहीं होता। जो गहने थे वे भी इस रोग में बिक चुके। मैनेजर के पास जाने पर वह झल्ला कर बोला—"खेद है, आपको रुपया अभी नहीं मिल सकता। जब तक 'बिल' नहीं बनता, तब तक तो आपको सब्र करना ही होगा। मैं अपना 'सिस्टम' नहीं बदल सकता। इसलिये······।"

बाद की कथा अत्यन्त संक्षिप्त है। कर्ज लेकर चिकित्सा कराने पर भी सरस्वती नहीं बच सकी। वह चली ही गई। और, आज भी विश्वनाथ उसी पद पर स्थित है। आठ बजे सुबह में, गली की मोड़ से निकलते आप उसे रोज देख सकते हैं। नीचे दृष्टि किये वह प्रेस चला जाता है। कभी बिना बटन की कमीज पहने और कभी नंगे पाँव ही वह अपनी नौकरी पर जाता है। एक सस्ते होटल में स्वयं खाकर और राजू मुन्नी के लिये भी भात लेकर वह दो-पहर को

घर लौटता है। एक अधेड़ और निकम्मे पड़ोसी की देखरेख में बच्चे रहते हैं।

कभी-कभी अपने कमरे की मैली दीवाल को वह एकटक देखने लगता है। अंधेरे में उसे मालूम होता है, मानो सरस्वती उसकी ओर आ रही है। विश्वनाथ की पुतलियाँ स्थिर हो जाती हैं। वह देखता है और देखता रह जाता है। फिर गरम-गरम दो मोटे आँसू उसके सूखे कपोलों पर ढुलक जाते हैं!

अपना-पराया

इस कोलाहल से भरी दुनिया में कृपानाथ कहीं शांति नहीं पाते। लोगों का अविराम स्रोत और यह बझी हुई दुनिया उन्हें निरर्थक-सी लगती। वे सोचते— जीवन में आखिर है ही क्या? एक तमाशे की तरह, एक स्वप्न की तरह बीत जानेवाली यह जिंदगी! यह जिंदगी, जिसके टूटने पर केवल वीणा की अंतिम काँपती आवाज के साथ एक थर्राहट रह जाती है, और रह जाती है कभी की सुनी हुई मर्मर-ध्वनि की प्रतिध्वनि!

जीवन की यह फिलासफी, इसमें उलझकर, कृपा बाबू ने अपने पचपनवें साल में कदम रक्खा है। गंभीर भाव से एक आरामकुर्सी पर बैठ, वह लोगों की हलचल भरी जिंदगी का अध्ययन करते हैं। कभी खीझते हैं, कभी मुस्कराते हैं और कभी उठकर चहलकदमी करने लगते हैं।

यह बेचैनी तबसे शुरू हुई, जब उनकी अंतिम पूँजी, उनकी दिवंगता पत्नी की अंतिम यादगार 'प्रभा' सात साल की उम्र में आज से प्रायः आठ वर्ष पूर्व गुजर चुकी थी; और छोड़ गयी थी एकाकी कृपानाथ पर बोझ-भरी स्मृतियाँ, कुछ गुत्थियाँ! एकाएक ही

कृपा बाबू को लगा—जैसे उनके जीवन की सरिता सूख गयी है। घोर वितृष्णा से उनका मन चंचल हो उठा।

और फिर उनके जीवन में उदासी आ गई—सूनी-सूनी आखों से वे सब देख लेते अनमने भाव से।

उनका कमरा कोई बड़ा नहीं है। फालतू चीजें उन्होंने दूसरे कमरे में रख छोड़ी हैं। उनके कमरे में कुछ चुनी हुई पुस्तकें हैं, जिनमें वेदांत, गीता से लेकर रवि बाबू की 'गीतांजलि' तक है।

पुस्तकों से अब कृपानाथ की वितृष्णा दूर नहीं होती। कभी रवि बाबू की 'गीतांजलि' की इन पंक्तियों को पढ़ कर उनकी आँखें सजल हो उठतीं :—

"He came when the night was still ; he had his harp in his hands, and my dreams became resonant with its melodies.

Alas, why are my nights all thus lost? Ah, why do I ever miss his sight whose breath touches my sleep ?"

और कभी गीता की इन पंक्तियों से वे अपने को सांत्वना देने की चेष्टा करते :—

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।"

किंतु, यह सांत्वना अस्थायी साबित होती, और गीतांजलि के

गीत अब उन्हें नहीं रुला पाते। कृपानाथ सोचते—मेरी जिंदगी तो करुण गीतों से भी करुण है!

इसी तरह कृपानाथ जीवन-पथ पर बिना उत्साह के चलते। चलते, मानो वह इस पथ को समाप्त करना चाहते हों!

उस दिन ऊपरवाले कमरों के लिए एक सज्जन आये। कृपानाथ की आमदनी सौ-सवा सौ रुपये अपने मकानों से थी। अधिकांश रुपये वे अनाथालय को दे देते। कुछ दूर के संबंधी भी उनसे मदद ले जाते। अपने छोटे-से परिवार को खोकर कृपानाथ की दिलचस्पी आर्थिक मामलों में कम हो गयी है। पोस्ट-आफिस की नौकरी से रिटायर्ड होकर एक अच्छी रकम वे पेंशन में पाते हैं। 'प्रभा अनाथालय' उनकी ही प्रेरणा का परिणाम है।

दूसरे दिन नये किरायेदार ऊपरवाले कमरों में आ गये। उनके साथ फ्राक पहने पाँच-छः साल की एक सुन्दर लड़की भी थी। वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से सब देख रही थी— कुछ चकित होकर और कुछ कुतूहलवश। कृपानाथ की दृष्टि जब लड़की पर पड़ी, तो वे एकटक उसे देखते रह गये। जाने क्यों, लड़की के प्रति उन्हें एक अकर्षण हो गया।

उसके पास जाकर मुस्कुराते हुए स्नेह भरी आवाज में उन्होंने पूछा—"तुम्हारा क्या नाम है बिटिया?"

लड़की ने सहमी आँखों से कृपानाथ की ओर देखा।

उसके पिता हँसकर बोले—"बतला क्यों नहीं देती पगली?"

लड़की कुछ सकुचायी, फिर आहिस्ते बोली—"शारदा...।"

'शारदा ?' कृपा बाबू बोल उठे—"बड़ा सुन्दर नाम है तुम्हारा...।" और जाने क्यों वे कुछ अन्यमनस्क-से हो गये।

उस दिन वे लौट आये। आकर उन्होंने मेज से एक फोटो निकाला। तस्वीर प्रभा की थी। ऐसी ही सुन्दर, ऐसी ही भोली और प्यारी आकृति !

कृपानाथ की आखें भर आयीं।

दूसरे दिन कृपानाथ का परिचय उस लड़की से और भी बढ़ गया।

लड़की के पिता एकाउंटेंट थे; वे अपनी ड्यूटी पर थे। माँ अपने डेढ़ साल के लड़के के लिये एक टोपी बुन रही थी।

"तुम्हें खिलौने पसंद हैं ?" कृपानाथ का प्रश्न था।

उत्तर में लड़की ने सिर हिलाकर कहा—"हाँ।"

दूसरे दिन अनेक पुराने और नये खिलौने शारदा के पास थे।

माँ ने सहमकर पूछा—"कहाँ से उठा लायी ?"

"बाबा ने दिये।" लड़की बोली।

"बाबा ?" माँ अकचकायी।

"जिनके मकान में हम रहते हैं न, वही बाबा !"

माँ चुप रह गयी; किंतु उसकी आकृति विशेष संतोषजनक नहीं थी।

और कृपानाथ के जीवन में कुछ हरियाली आयी। शुष्कता कुछ कम होने लगी। फिलासफी की विचारधारा बदल गयी।

वे शारदा को पास बिठाकर अनेक कहानियाँ सुनाते—अनेक दिलचस्प बातें बतलाते। एक युग की जो जमी बातें थीं धीरे-धीरे पिघलने लगीं।

शारदा अपनी भोली और बड़ी आँखें फैलाकर पूछती—"तो बाबा, तुम्हें कोई नहीं है?"

"है क्यों नहीं?" कृपानाथ सकपकाते।

"कौन है? मैं तो नहीं देखती?" शारदा कहती।

"है क्यों नहीं री, तू जो है।" कृपानाथ का कंठ भर आता।

"मैं? मैं तुम्हारी कौन हूँ?" लड़की की आँखों से कुतूहल फट पड़ता।

"तू...तू मेरी रानी बिटिया है!" और, आवेश में आकर कृपानाथ उसे गोद में उठा लेते।

समय का पंछी उड़ता जाता। और यह शारदा है कि अपने बाबा से खूब घुल-मिल गयी है। एक पल भी वह अपने बाबा को छोड़ना नहीं चाहती।

और ये कृपानाथ हैं, जो अब बड़े फुर्तीले हो गये हैं। जब देखो कोई कलाबाजी कर रहे हैं। अपनी इस बिटिया की मुस्कान देखने के लिए कभी बंदर की आवाज की नकल करते हैं, कभी बिल्ली की।

इसी तरह दिन गुजर कर रहे हैं। कृपानाथ की दुनिया अब इस 'शारदा' पर केंद्रित हो गयी है। शारदा की माँ इस बढ़ते हुए स्नेह को कोई अच्छी दृष्टि से नहीं देखती। वह इसे अपशकुन

मानती है। 'ज्यादा प्यार और दुलार, और वह भी गैर का, दुःख-जनक होता है'—शारदा की माँ का ऐसा विश्वास है।

उस दिन दोपहर के बाद शारदा को हल्का बुखार आ गया। वह अनमने भाव से पड़ी रही। माँ ने कपाल छूकर देखा—यह गर्म है! झुँझलाकर बोली—"अच्छा हुआ...दिन भर जो मारी-मारी फिरती हो...अब भोगो।"

शारदा ने अधखुली आँखों से माँ की ओर देखा।

'काफियास्प्रिन' की टिकिया देती हुई माँ बोली—"यहाँ आकर बड़ी शैतान हो गयी है···अब मुझे हैरान करेगी और क्या?"

बुखार ज्यों-का त्यों रहा। बल्कि, थोड़ा बढ़ा भी। कृपानाथ को एकाउन्टेन्ट साहब से मालूम हुआ, शारदा को बुखार आया है।

वह घबड़ाये हुए ऊपर चले आये। दरवाजे ही पर से पुकारा—"शारदा बिटिया...?"

आवाज पहचानकर शारदा चौंक उठी। आहिस्ते बुदबुदाई—"बाबा...?"

माँ ने भी सुना और वह उबल पड़ी—"बाबा...आये बड़े बाबा बनकर...इन्हींके कारण तो मेरी लाड़िली बीमार पड़ी...।" और नल पर हाथ धोती हुई महरी को बुलाकर कहा—"कह दे शारदा अभी नींद में है...जगाना ठीक नहीं...।"

"अभी सोयी है...शारदा अभी सोयी है...ठीक तो...अभी जगाना ठीक नहीं...।" कृपानाथ बड़बड़ाये और चलने को उन्होंने पैर बढ़ाया। फिर एकाएक लौटकर बोले—"अरी ओ...सुनले... जब

उसकी नींद टूटे तो मुझे बुला लेना... हाँ भूलना मत...मैं बाहर दालान में बैठा हूँ...।"

कई घंटे गुजर जाने के बाद भी जब कृपानाथ की बुलाहट न हुई तो उदास भाव से चल पड़े। सोचा—शारदा बिटिया गहरी नींद में है...जगाना ठीक नहीं।

और, बाजार जाकर वे अनेक तरह के फल, नये खिलौने इत्यादि ले आये। साथ में डाक्टर भी था।

महरी से सारी बातें सुन शारदा की माँ झल्ला उठी। बोली—"वे हमें क्या समझते हैं? हम भिखमंगे हैं? आखिर गैर के लिये इतनी माया-ममता क्यों है? कह दे—बहूजी कहती हैं हमें कुछ नहीं चाहिये।"

और जब महरी से कृपा बाबू ने यह बात सुनी, तो उन्हें मानो बिच्छू ने काट खाया!

वे बड़बड़ाये—"बहूजी ने कहा है...बहूजी ने यह कहा है!"

... ...

महरी अपनी बात पर जोर देती बोली—"हाँ बहूजी, मैं कसम खाकर कहती हूँ; पड़ोस की तेलिन से मैंने सभी बातें सुनी हैं... इस मकान में जो आता है, फिर उजड़कर ही जाता है...यहीं किरिपा बाबू की बहू और बेटी मरी है...यहीं एक बँगालिन का इकलौता बेटा मरा है....यहीं....!"

"दैया रे...!" बहूजी बीच में ही चीख उठी—"अब नहीं सुनूँगी...तभी मैं सोचती थी कि अभी महीना भी पूरा नहीं हुआ

कि मेरी फूल-सी बिटिया को खाट पकड़नी पड़ी···आज ही मैं हट जाऊँगी···।"

और अपने एकाउन्टेन्ट पति के आने पर बहूजी ने रो-धोकर एक तूफान खड़ा कर दिया। बोलीं—"अगर आज तुम इस मकान को नहीं छोड़ते, तो मैं जहर खा लूँगी···कुएँ में डूब मरूँगी··· पत्थर पर सिर पटककर जान दे दूँगी···!"

बेचारे एकाउन्टेन्ट हक्के-बक्के-से हो रहे ? किन्तु नारी-हठ के आगे उन्हें झुकना ही पड़ा। सभी चीजें गाड़ी पर रक्खी जाने लगीं।

दुर्बल और उदास शारदा विस्फारित नेत्रों से सब देख रही थी। बुखार छूट गया था; किन्तु कमजोरी अभी बाकी थी। उसका नन्हा-सा हृदय अपने बाबा को छोड़ते हुए तड़प रहा था।

इसी बीच महरी आयी और कृपा बाबू के आगे उनके खिलौने सौंपती हुई बोली—"बहूजी ने आपके खिलौने वापस दिये हैं।"

कृपानाथ मूर्तिवत् खड़े रहे। एक बार स्थिर दृष्टि से उन्होंने महरी की ओर देखा और दूसरी बार अपने अपमानित लांछित खिलौने की ओर !

उधर बग्घीगाड़ी में जाती हुई शारदा अपने बाबा को एकटक देख रही थी। उसकी नन्हीं, किन्तु फैली हुई आँखों में धुँधलापन छा रहा था।

और कृपानाथ ?

वे शायद अब कल्पना-लोक से ठोस भूमि पर गिर चुके थे।

पथ पर

सत्य के मन में जो विद्रोह जगा था, वह तीव्र होता गया। सत्य होकर वह असत्य को क्यों ग्रहण करे ? वह देख रहा है, मुल्क तबाह है, देश की अवस्था बिगड़ती जा रही है। चारो ओर हाहाकार है, उदासीनता है। विभेद और श्रेणीभेद से मानवता पीड़ित है।

उससे न रहा गया। वास्तविकता की उपेक्षा वह नहीं कर सकता। स्वार्थ की भित्ति पर वह अपनी आत्मा को न कुचलेगा। इसलिये जब वह आरती के निकट पहुँचा तो उसका चेहरा प्रदीप्त था।

सत्य बोला—'आरती ?'

'क्या है जी?' आरती निकट चली आई।

'आरती, मैं अब जाऊँगा।'

'कहाँ ?' आरती धक् रह गई।

'वहीं।' गम्भीर स्वर में सत्य बोला।

'मजाक करने आये हो ?' सूखी हँसी हँस आरती बोली।

'मजाक नहीं, यह सच है आरती।'

आरती सन्न रह गई।

सत्य कहता गया—'इस बनावट पर मैं नहीं ठहरूँगा। हमारी

आत्मा हमें कचोट रही है आरती। अब तो और बर्दाश्त नहीं किया जाता। सिर्फ यह पूछने आया हूँ, क्या मुझे एक व्यथा लेकर जाना पड़ेगा।'

'व्यथा ?'

'हाँ, कर्त्तव्य के बीच तुम्हारी व्यथा रुकावट डालेगी। मैं चाहता हूँ, तुम एक बार हँस दो। हृदय खोलकर कहो।'

आरती मौन रही। वह क्या उत्तर देती ?

(२)

गरमी के तपते दिन। आकाश से चिनगारियाँ उड़तीं। लू की लपटों से सनी वायु।

गाँव के उत्तरी भाग में ऐसी जाति के लोग बसते हैं, जिनकी जिन्दगी किसी कीड़े से अधिक महत्त्व नहीं रखती। वे मरते हैं तो उन्हें कफन तक के लिए पैसे नहीं रहते। काले कलूटे, परितप्त और मृत्यु की चिन्ता से उदासीन। उनकी झोपड़ियों में धूल और गर्द अनायास छा जाती है।

सत्य इन्हीं टोलों में आकर मानवता का वीभत्स चित्र देखता है। दुनियाँ की छाती पर यह फोड़ा, यह गंदगी।

और वह सोचता है, 'मानव' शब्द से घिरे ये व्यक्ति उससे कितनी दूर हैं !

सारा भारत आज इन्हीं व्यक्तियों से भरा है। हाहाकार जिनकी जिन्दगी का अध्याय हो गया है। खुशी जिनकी 'रोटी' में समाई

रहती है। अशिक्षित, ज्ञान की ज्योति से दूर, दुःख और घोर दरिद्रता से पीड़ित !

सत्य कहता है—'भाइयो, तुम्हें रोटी मिलेगी।' उन क्षुधातुर मानवों की शुष्क आँखें चमक उठती हैं।

सत्य कहता है—'भाइयो, तुम चूसे जाते हो।'

वे अभागे सर नीचा कर लेते हैं।

सत्य की वाणी फैलती है—'तुम्हारे दिन लौट सकते हैं··· तुम चैन की जिन्दगी बिता सकते हो। तुम्हारे खेतों में लक्ष्मी आ सकती है···।'

सभी की मुद्रा उत्सुक हो उठती है।

सत्य की गम्भीर आवाज निकलती है—'तुम आजादी प्राप्त करो—गुलामी की कड़ियाँ तोड़ो—भारत तुम्हारा है।'

(३)

और आरती ?

दिन पर दिन बीत रहे हैं। आरती प्रार्थना करती है—'भगवान्, अपने व्रत में वे सफल हों।'

सत्य बेचैन है। प्रांत के कोने-कोने में वह चाहता है, जागृति हो। ऐसी जागृति जो देश की कायापलट कर दे !

वह स्वयंसेवकों का प्रधान है। उसे इतनी फुरसत कहाँ कि जम कर कहीं रह सके। आज कई महीने गुजर गये, आरती का देवता नहीं आया ! आरती की प्यास बढ़ चली है। शुष्क दिन, नीरस रात !

सत्य के पिता कहते हैं—'सत्य हमारे वंश का कलंक निकला। इतनी बड़ी जमींदारी और यह धन दौलत अब मिटना ही चाहती है।'

सत्य के बड़े भाई भौंहें सिकोड़, आरती जिसमें सुन सके, ऐसी स्पष्ट आवाज में कहते हैं—'बड़े प्रगतिशील बनने चले हैं! तुरत ही आँटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा जब जेल में चक्कियाँ पीसने को मिलेंगी।'

इन सब बातों को सुनते ही आरती की आँखें भर आती हैं। सत्य के फोटो को सामने रखकर, वह हल्के बुदबुदाती है—'देवता, मैं तुम्हारा मूल्य जानती हूँ। तुम मुझे क्षमा करना।'

उस दिन आरती को सत्य का एक पत्र मिला जो पेन्सिल से लिखा गया था। उसने लिखा था—

रानी,

बड़ी जल्दी में हूँ। पास के एक गाँव में भीषण हैजा फैल गया है। समिति की ओर से स्वयं-सेवकों की एक टोली जा रही है। मैं उसका प्रधान हूँ; अतएव मैं भी जा रहा हूँ। जीवन को जब इस पथ पर खींच लाया हूँ, तो फिर हिचकूँ क्यों रानी? तुम्हें याद होगा, जातें समय तुमने कहा था—'तुम्हारे द्वारा देश की कुछ भलाई हो सके, मैं प्रभु से यही प्रार्थना करती हूँ···तुम जाओ···· मेरा प्यार तुम्हारे पथ का रोड़ा न बनेगा' ··· आज एक ऐसा ही अवसर आया है रानी। कौन जानता है, जीवन का बलता दीप यहीं न बुझ जाय! दीप बुझ जायगा किन्तु प्रकाश देकर ही तो! इस प्रकाश से कितने

भूले मानव रास्ता पा जायँगे, यही सोच कर मैं प्रसन्न हूँ रानी।

इला को प्यार।

तुम्हारा ही
सत्य।

और आज एक सप्ताह बाद अभी-अभी यह तार आया है—हैजे से सत्य बाबू की मौत हो गई। शीघ्र आवें।

इस समाचार से आरती की आँखों से एकाएक आँसुओं की बाढ़ उमड़ आई है। वे मानो एक युग से संचित थे; आज बाँध टूट गया है!

उसकी तीन वर्ष की बिटिया इला भौंचक हो पूछती है—'क्या हुआ माँ?

आरती अपनेको न रोक पाती है। इला को कलेजे से चिपटा, रुँधे गले से वह कहती है—'कुछ नहीं बिटिया, तुम्हारे बाबूजी दूर चले गये हैं।'

मिनो दीदी

आँधी की तरह विभु घर में घुसा और किताबों का बंडल एक ओर फेंक, हाँफते हुए खाट पर बैठ गया। मृणाल चुपचाप बर्तन धो रही थी; उसे ही लक्ष्य कर उसने पुकारा—"मिनी दीदी, अरी ओ मिनी दीदी ?" किन्तु मृणाल ने कुछ भी उत्तर न दिया और अपने काम में वह व्यस्त रही।

विभु झल्लाये स्वर में बोला—"नहीं सुनती क्या, मैं कब से पुकार रहा हूँ।"

इस बार अपनी मुस्कुराहट को ओठों पर दबाकर मृणाल मुड़ी; बोली—"तुम नहीं देख रहे थे कि मैं बर्तन धो रही थी।"

"देख तो रहा था।"

"फिर इतना गुस्सा क्यों करते हो ?"

"मुझे भूख लगी है।"

"तो खाओगे किसमें ? उसीके लिये तो इंतजाम कर रही हूँ।"

"हूँ !"—किसी बुजुर्ग की तरह विभु ने हुँकारी भरी और कहा—"अच्छा, अब जल्दी दो।"

बर्तन धोकर मृणाल चौके में घुसी। किन्तु, यह क्या ? समोसे

कहाँ हैं ? मृणाल को जैसे काठ मार गया। विभु के स्वभाव से वह परिचित थी। अब क्या होगा ? विभु इसके लिये जमीन-आसमान एक कर देगा। यह जो अकल्पित घटना घट गई, इसका अनुमान मृणाल को तनिक भी न हो पाया था। अभी-अभी ही तो सात-एक मिनट के करीब हुए होंगे, जबकि वह कटोरे में समोसे रख बर्तन धोने गई थी। इस बीच......

विभु बैठे-बैठे चिल्लाया—"अरी ओ मिनी दीदी, लाती क्यों नहीं ?"

मृणाल आहिस्ते चौखट के बाहर आई और ठिठककर खड़ी हो गई। फिर स्नेह भरे शब्दों में बोली—"विभु भैया...नाराज तो न होगे...एक बात कहूँ ?"

"क्या, समोसे कहाँ हैं ?"

"वही तो कह रही हूँ भैया...आग लगे मेरी याद पर... समोसे का कटोरा मैं खुला ही छोड़ गई।...शायद...।"

विभु को जैसे बिजली छू गई। चिल्लाकर बोला—"मैं तो पहले ही जानता था कि आज भी तू कोई बहाना करेगी...।"

"नहीं, नहीं...मैं अपने सिर की कसम खाती हूँ विभु भैया कि आज मैंने बनाकर ही रक्खे थे...।"

"तो मैं खाऊँ क्या...तुम्हारा सिर ?"

"बस.....दो-चार मिनट सबर न करो मेरे राजा भैया......।"

विभु मुँह फुलाये बैठा ही रहा।

... ...

माँ को सौर में ही खोकर, विभु जब इस दुनियाँ में आया, तब अपनी बड़ी बहन मृणाल से ही, जो उस समय प्रायः तेरह वर्ष की थी, उसे मातृत्व का स्नेह मिला। अपनी बड़ी दीदी 'मिनी' के ही सहारे आज उसने बारहवें वर्ष में प्रवेश किया है। मातृहीन, इस सुन्दर बालक से मृणाल की ममता तब और बढ़ गई, जब यौवन के बीसवें वर्ष में ही वह बिधवा होकर पुनः अपने पितृ-गृह लौट आई। पिता थे सरकारी दफ्तर में किरानी। मृणाल ने आकर फिर अपने पितृगृह को, जो उसके अभाव में उजाड़ और सूना हो गया था, आबाद कर डाला। विभु ने अपने शैशव के दिन अपनी इसी मिनी दीदी के स्नेहांचल में बिताये हैं। विभु अपनी दीदी से लड़ता है, झगड़ता है, और फिर उसके आँचल में मुँह छिपा खिलखिला पड़ता है। इस तरह हँसी-खुशी की एक रेखा पर मृणाल का 'वर्तमान' भी कटता जा रहा है। खेल रोज बनते हैं; कभी मृणाल रूठ जाती है और कभी विभु ही पत्थर का देवता हो जाता है। मृणाल को उसके ऊधमी स्वभाव में एक हल्का-सा आनंद आता है, इसीलिये विभु, शायद अधिक चंचल हो गया है।

आज विभु बड़ा खुश था। क्लास में वह अव्वल आया था। इसी खुशी में कूदते हुए आकर उसने पुकारा—"मिनी दीदी, अरी ओ मिनी दीदी ?"

किंतु, एकाएक वह ठिठक गया। आज मिनी दीदी ऐसी क्यों है ? कहाँ वह रोज की तरह उत्तर देती है ? खाट पर लेटी हुई वह जोरों से कराह रही है।

"तुम्हें क्या हुआ दीदी ?" और मिनी दीदी के माथे को छूकर देखा—वह काफी गर्म था !

चुपचाप मन मारे वह सिरहाने बैठ गया।

"सिर दबा दूँ मिनी दीदी ?"

"नहीं रे, रहने दे।" मिनी ने करवट बदली।

विभु चुप बैठा ही रह गया।

दिन गुजरते गये; मिनी दीदी का ज्वर बढ़ता ही गया। उसे डबल निमोनिया हो गया था।

विभु रात-दिन मिनी दीदी की सेवा करता।

"मैं अब मर जाऊँगी विभु।" अपने अधरों पर क्षीण मुस्कान ले वह कहती।

विभु आँखें फाड़-फाड़कर देखता रह जाता।

"तू जानता है रे, मरना क्या होता है?"

विभु सिर हिला देता।

"मरकर आदमी सुख पाता है रे। दुनिया में जो जिंदा है उसे एक दिन मरना ही पड़ेगा। मैं भी अब नहीं बचूँगी ...।" और मृणाल का कंठ रूँध गया। विभु की ओर वह देखती रह गई। विभु को देख उसे रुलाई आ रही थी।

और, कुछ दिनों बाद सचमुच मृणाल मर गई। डाक्टर का कहा सत्य ही निकला। विभु के पिता की बुरी हालत थी और विभु पथराई आँखों से सब देख रहा था।

गोधूलि की उस वेला में मिनी दीदी ने कहा था—"विभु भैया, तुम मुझे याद करोगे न ?"

अपनी मिनी दीदी की दशा देख उसकी आँखें भर आई थीं।

"देखो विभु, बड़ा आदमी बनना और अपने जीवन को ऊँचा बनाना··· ।"

× × ×

आज विभु की मिनी दीदी नहीं है। लोग कहते हैं, वह मर गई। विभु सोचता है, क्या सचमुच मिनी दीदी नहीं आयेगी ?

"विभु बाबू, नाश्ता कर लीजिये।" एक आवाज आई। विभु ने मुड़कर देखा, दाई खड़ी है, जिसकी नियुक्ति अभी हाल में हुई है। एकटक विभु उसके चेहरे की ओर देखता रह गया। मिनी दीदी उसे इसी तरह खाने को कहती थी ?···कहाँ यह लड़ती है...और कहाँ उसे खिझा कर परीशान करती है ?

विभु की स्मृतियाँ सजग हो गई हैं···

'समोसे कहाँ हैं ?'

'वही तो मैं कह रही हूँ भैया···आग लगे मेरी याद पर···नहीं-नहीं···मैं अपने सिर की कसम खाती हूँ विभु भैया कि आज मैंने बनाकर ही रक्खे थे···।'

"ओ मिनी दीदी···?"—आहिस्ते विभु बुदबुदाया और तकिये में मुँह छिपाकर सिसक उठा।

———

नारी की व्यथा

हाय री मानव की आकांक्षाएँ! कितने यत्न और स्नेह से सिंचित की हुई मधुर स्मृतियाँ न जाने किस क्षण में टूट जायँगी, यह कौन कह सकता है! उस क्षण, उस घड़ी, उसके हृदय के उठते हुए तूफान को कौन अनुभव कर सकता है?

......आज यह कुमुद क्या कर बैठी है? उस एक क्षण, एक घड़ी ने कितनी बेरहमी के साथ उसके जीवन-नाटक पर पर्दा डाल रक्खा है! उसके हृदय की 'नारी' मानो चीत्कार कर उठती है। हृदय की गति इतनी तेज है कि वह अपने आँसुओं को संभाल ही नहीं पाती। एक भयंकर अज्ञात अट्टहास उसके हृदय के साथ न जाने यह कैसा परिहास कर रहा है। वह मानो कह रहा है—'पतिता है तू......दूर हो जा...तुमने मेरे विश्वास को रौंद डाला ....छिः अभागिन...'

उस घड़ी के स्मरण मात्र से उसे रोमांच हो आता है। वह गड़ सी जाती है। आँखों में आँसू भर, घुटने टेक, पति के चित्र को देखते, रुँधे गले से कुमुद कहती है—'ओह!......मैं अबला जो हूँ......मुझे क्षमा करो देव!'

[२]

कुमुद का सौन्दर्य्य निखर रहा था। नारी की सारी विभूतियाँ लेकर वह अपने जीवन के सुनहले सावन में मुस्कुरा पड़ी थी। अधरों से मुस्कान की आभा अभी फूट ही रही थी कि रजनी आया।

इस रजनी से कुमुद ने हृदय का मेल कब किया, वह जान भी नहीं सकी। इसका ज्ञान उसे तब हुआ जब रजनी ने एक दिन उससे कहा—"कुम्मु, हम जिसे अपने हृदय के निकट खींचने का प्रयत्न करते हैं, दुनिया उसे घृणा की दृष्टि से देखती है। सच बताना कुम्मु, इससे तुम्हें श्रद्धा है?"

"नहीं जी" कुमुद ने कैरम का स्ट्राइक ठीक करते हुए कहा था —"वह हमारा दुर्भाग्य है।"

"दुर्भाग्य! तुम भाग्य पर विश्वास करती हो?"

"क्यों नहीं करूँगी? यह हमारा संस्कार है।"

रजनी चुप देखता रह गया।

× × ×

और एक दिन घूँघट काढ़, वधू के रूप में वह एक अपरिचित शहर में आ गई। पति शहर के गिने-चुने व्यक्तियों में से थे। कुमुद को लगा, जैसे वह बाजी हार गई है। रजनी याद आ जाता। सूनी घड़ियाँ बड़ी सतातीं।

पति ने पूछा "कुम्मु, यह क्या?"

और कुमुद उदास अधरों पर मुस्कुराहट लाने का असफल प्रयत्न करती ।

पति प्यार-भरे स्वर में, सर पर हाथ फेरकर कहते — "तू तो पागल बन गई है......मुझे भी पागल बनाती हो कुम्मु ! हँसो जरा......हँसो भाई......।"

और कुमुद पति के वक्षस्थल में अपना सिर छिपा देती ।

[३]

कुमुद सोचती है, यह रजनी इस तरह उसके जीवन में क्यों आया ? यह रजनी उसकी सखी का भाई है । लता के कारण वह रजनी को जान सकी । और दिन बीतते-बीतते रजनी ने उसके हृदय में घर कर लिया था । वह रजनी को ले, उधेड़-बुन कर, कल्पनाओं का जाल बनाया करती थी । जीवन के उन रंगीन क्षणों में रजनी बड़ा सुन्दर लगा था । और अचानक, एक दिन, उसे लगा कि रजनी उसके हृदय के बहुत ही समीप आ चुका है । ग्रन्थियाँ उलझती जा रही थीं ।

जिस दिन कुमुद का ब्याह श्रीकमलकिशोर बैंकर से हुआ, रजनी ने ओठों पर सूखी हँसी लाकर कहा—"तुम्हें बधाई देने आया हूँ कुम्मु ।"

कुमुद सूनी आँखों से देखती भर रही थी ।

रजनी कह रहा था—'तुम सुखी रहो कुम्मु, मेरे जीवन की सब से बड़ी अभिलाषा यही है......।' और रजनी चला गया था ।

पति-गृह आये अभी उसे तीन महीने भी न बीत पाये थे कि लता

की चिट्ठी आई थी। उसने लिखा था—"तुम रजनी भैया का हाल जानकर दुःखी होगी। वे घर पर नहीं रहते। कहते हैं, मैं संन्यासी हो जाऊँगा; मेरा मन दुनिया के कामों में नहीं लगता। इस बार फाइनल परीक्षा में नहीं बैठे हैं।"

इन पंक्तियों को पढ़कर कुमुद के हृदय में वेदना के कितने तूफान आये और गये, यह कौन कह सकता है?

× × ×

और हठात् उसके पतिदेव बीमार पड़ गये। डाक्टरों ने बतलाया—"इन्हें निमोनिया हो गया है।"

कुमुद काँप गई। अभी सुहाग का दूसरा वर्ष भी शुरू न हो पाया कि यह प्रलय आ पहुँचा......

रोगशय्या पर पड़े-पड़े पतिदेव ने कहा—"कुम्मु, एक बात कहनी है।" पंखा झलती हुई कुमुद ठिठक गई।

"रजनी को तुम जानती हो?"

कुमुद जैसे बेहोश हो जायगी।

पतिदेव मुस्कुराये। बोले—"इलाहाबाद में उससे भेंट हुई थी। एकाएक ही हमलोग मिल गये।"

कुमुद की आँखें स्थिर हो गईं।

"कुम्मु, यह स्वाभाविक है। तुम्हारी दुर्बलताओं के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति है.......।" वे बोले।

कुमुद सुबक कर रो पड़ी। गरम बूँदें पति की छाती पर पड़ीं।

"पगली, इसीसे मुझसे भागा करती हो ?" पति म्लान हो गये। अधरों पर विषाद की रेखा आई। बोले —"काश, एक दिन भी तुम मुझे समझ पाती......"

......और उसके दूसरे दिन ही संध्या में उन्होंने अपनी आँखें सदा के लिए बन्द कर लीं।

× × ×

सुहाग लुटा जब वह पितृगृह पहुँची, समवेदनाओं का ताँता बँध गया। लोगों ने कहा—"प्रारब्ध की बात, इसमें आदमी क्या कर सकता है ?"

दिन बीतने लगे; उदास, करुण और बोझीले।

उस दिन आकाश में बादलों की भीड़ थी। काले-काले बादल उमड़ते आ रहे थे। ऐसे ही समय रजनी आया। पिता ड्यूटी पर थे; माँ सोई थी।

कुमुद दरवाजे पर खड़ी बादलों को देख रही थी। रजनी ने पुकारा—"कुमुद ?"

कुमुद स्वर सुनकर सिहर उठी। रजनी बढ़ता आया। उसकी आँखें अँगारे की भाँति लाल थीं। दोनों एक-दूसरे के सामने थे।

"कुमुद ?"

वह चुप थी।

"तुम आज भी मेरी हो सकती हो ....ये आडम्बर झूठ हैं, एक दिन तुमने इसे स्वीकार किया था ....आज उसी बात को मैं फिर सुनने आया हूँ।"

कुमुद का मुख दुःख, घृणा और असमर्थता से लाल हो उठा। वह बोली—"रजनी, तुम मेरा अपमान करने आये हो?"

"अपमान?" रजनी अवाक् रह गया।

"तुम नहीं जानते कि मैं एक हिन्दू नारी हूँ...?"

रजनी कुछ क्षणों तक मौन रहा; फिर कुमुद के हाथ को अपने हाथ में लेकर बोला—"कुमुद, तुम्हें वे दिन याद हैं?"

कुमुद की आँखें भर आईं।

"क्या तुम्हारा हृदय पत्थर का हो चुका है कुम्मु?"

"तुम जाओ रजनी...जाओ..."

कुमुद का बाँध टूट पड़ा—"मैं इतना बर्दाश्त नहीं कर सकूँगी ...मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ, तुम मुझे माफ कर दो।" और कुमुद जोरों से किवाड़ बन्दकर भीतर चली गई।

× × ×

सन्ध्या को यह खबर फैल गई कि कुमुद ने आत्महत्या कर ली है।

——:०:——

ज्वार-भाटा

विष्णु अपने चारो ओर के वायुमंडल को, जो उमड़-घुमड़कर उसके जीवन से टकरा-टकराकर खेल रहा है, अनुभव कर रहा है। वह जान रहा है, देख रहा है, और जानता हुआ भी अबोध की तरह चुप है। आखिर वह करे क्या ? छिः! यह दुनिया क्यों इस तरह उसके पीछे पड़ी है? उसने किसी का क्या बिगाड़ा है? यह जो निरन्तर घृणा का तार उसे बाँधे जा रहा है, इसे यह अल्पज्ञ विष्णु कैसे दूर करे ? दुनिया के ये उपहास और व्यङ्ग सुनते-सुनते वह जर्जर हो गया है। काश, वह इनसे बच सकता !

किन्तु वे दो आँखें ?

वह क्या करे ? कैसे भूले उन दो आँखों को ? उन दो आँखों ने तो उसे पागल बना छोड़ा है !

❀ ❀ ❀

परीक्षा की तैयारी। जी जान से परिश्रम करना होगा। फेल होने पर किसी काम के नहीं। पढ़ना और सिर्फ पढ़ना। विष्णु भी एकाग्र चित्त हो, ध्यानस्थ योगी की तरह पुस्तक पर आँखें गड़ाये है।

ये मोटी-मोटी पुस्तकें ! यह रहा गुप्तकाल का इतिहास...... प्राचीन युग के वैभव का नग्न वर्णन !

वासंती सारी की खसखस ! ... दो नाचती, हिलती-डुलती आँखें...बड़ी-बड़ी......चंचल......लाल अधर !

छिः ! यह फिर दिमाग में क्या वाहियात बातें आयीं ? पढ़ो-पढ़ो। परीक्षा झूम रही है। भले लड़के, पढ़ो।

......और फिर वही क्रम।

पाँच बज गये !

❀ ❀ ❀

और उस शाम जब वह खाने बैठा तो माँ ने पंखा झलते हुए कहा—"तुमने सुना विष्णु ?"

"क्या माँ ?

"बिन्दो को एक लड़का हुआ है।"

"हूँ।" विष्णु ने हामी भर दी।

"फले-फूले बेटा, कितनी अच्छी लड़की है !"

"...............।"

"क्यो रे ? उठ क्यों गया ? खा ले सब।"

बिना उत्तर दिये, गम्भीर मुद्रा से लम्बी-लम्बी डगें भरता हुआ विष्णु चला गया।

और विष्णु सोचता, यह तो दुनिया है। ऐसा होगा ही। इसमें सोचने की क्या बात है ?

हटाओ इन बातों को। उसे पढ़ना है। परीक्षा पास कर नौकरी करनी है।

❀ ❀ ❀

परीक्षा आयी और चली गयी। विष्णु ने यंत्रवत् सारा काम पूरा किया। परीक्षा-फल भी अनुकूल आया ; किन्तु पास करने ही से क्या आजकल नौकरी मिल जाती है ? पास कर वह बैठा है। घर की हालत खराब है। बहुत से रुपये उसकी पढ़ाई में जा चुके हैं। अब तो गुजारा नहीं होता। इन एक दो ट्यूशनों से भला वह कब तक खर्च चलायगा ?

माँ ने पंखा झलते हुए कहा—"बेटा...?"

विष्णु ने हाथ का कौर थामे ही माँ की ओर देखा।

"तू इतना बड़ा हो गया रे !"

"सच ? नहीं तो माँ, मैं तो अभी भी दूध पीने लायक हूँ।"

"दुत पागल, हर वक्त मजाक नहीं। अब तुझे शादी करनी चाहिये।"

"शादी ?"—बिना चौंके विष्णु कहता गया—"शादी कहाँ से करूँगा माँ ? अभी तो तुम्हारा ही पेट नहीं भर सकता हूँ।"

माँ अनमनी-सी चुपचाप पंखा झलती रही।

❀ ❀ ❀

एकाएक ही फुटपाथ की भीड़ में, उसे अपना एक पुरातन बन्धु मिल गया।

यतीन बोला —"यहाँ कैसे ?"

"इन्टरव्यू में आया हूँ, यतीन।"

"बहुत दिन पर मिले यार !"

और फिर सुख-दुख की चर्चा चली। यतीन इतने दिनों तक कहाँ रहा, क्या करता रहा, इन सब बातों को वह सुनाने लगा।

अन्त में वह बोला—"चलते हो 'विद्यापति' देखने ?"

विष्णु सकपकाया।

"चलो भी"—और वह दो टिकट ले आया।

❀ ❀ ❀

किन्तु फिर वे दो आँखें !

वही भूली-भटकी स्मृति ! अनुराधा की ये दो आँखें तो बिन्दो की हैं। ठीक ये ही; और जैसे अनुराधा ही बिन्दो हो !

खेल चल रहा है; और साथ-साथ विष्णु का अतीत वर्तमान होकर हवा में उड़ रहा है !

बिन्दो क्या अनुराधा की तरह उसके जीवन में आयी थी ? हाँ तो, जाने वह कहाँ से आई। उसके हृदय में बैठ गई और अनुराधा की तरह उसके जीवन से घुली रही !...

विद्यापति राजकवि होकर जा रहे हैं ! और अनुराधा ? बिन्दो ? रानी लखिमा ?

'ओः !'—विष्णु ने क्षण भर के लिये आँखें बन्द कर लीं।

❀ ❀ ❀

विष्णु 'इन्टरव्यू' में न चुना गया। हताश हो वह घर लौट आया।

माँ पंखा झलती हुई बोली—"तुमने सुना विष्णु ?"

"क्या माँ ?"

"बेचारी बिन्दो मर गई। दूसरा लड़का जो उसे होनेवाला था—वही उसके मरने का कारण है। पर भगवान की माया—बच्चा जिंदा आया !"

"हूँ।"—विष्णु ने हाथ का कौर मुँह में डालते हुए इस प्रकार की हामी भरी जैसे यह घटना उसके लिये साधारण-सी बात हो।

धिक्कार

इन उमड़ते तूफानों को रोकने की चेष्टा कर रही है लीला; किवाड़ के सहारे ठिठकी, जड़-सी बनी, आखों में एक सूनापन लिये वह देख रही है अपने चारों ओर के कलरव को। यह जो उदासी की छाया उसे घेरे है, लीला के सम्मुख मानो एक बवंडर उठा गई। अतृप्त, उनींदी आँखों से देखती भर रह गई वह।

और, शहनाई की आवाज क्रमशः तीव्र और करुण होती जा रही है। लीला को ऐसा मालूम हो रहा है, मानो उसके हृदय को कोई टुकड़े-टुकड़े कर रहा हो। वह छटपटाना चाहती है; किन्तु ऐसा कहाँ हो पाता है? वह चिल्ला-चिल्ला कर रोना चाहती है। चाहती है कि आँसुओं की बाढ़ में उसके सारे तूफान बह जायँ। आखों के जल से हृदय की सुलगती ज्वाला बुझ जाय!

बारात धीरे-धीरे आगे बढ़ गई थी; किन्तु बाजे और शोर-गुल की आवाज अब भी आ रही थी। लीला इसी विराट् जन-कलरव को कोठे से देख रही थी, शिथिल-सी, क्लांत-सी, मुर्झाई-सी।

तो, क्या लीला के सम्मुख अतीत का कोई भूला अध्याय आ गया था?

× × ×

किशोरी थी तब वह। पन्द्रहवें वसन्त की हवा से अभी-अभी वह पुलकित हुई थी। लीला ने क्या नहीं पाया था ? रूप फूट रहा था; आँखों में मस्ती आ गई थी और जीवन में एक नई गति। एक साथी के लिये उसके प्राण तड़पने लगे थे। वह एक ऐसे आधार का अभाव अनुभव कर रही थी जो उसके स्वप्नों का राजा हो। रानी बनने की चाह हृदय को गुदगुदा जाती थी।

और, एक दिन उसे मालूम हुआ, उसके लिये एक राजा चुन लिया गया है।

साधारण परिवार की लड़की थी वह। पिता कचहरी में मुहर्रिर थे। परिवार बड़ा था; गाड़ी कस-मस कर चलती थी।

लीला अपने स्वप्नों के राजा के बारे में न जाने कितने रंगीन चित्र बनाती थी। उसका राजा एक ऐसा तरुण था जिसके अधरों पर मुस्कुराहट थी; चेहरे पर लालिमा थी।

लीला सोचती थी, वह अपने देवता को फूलों का हार पहनाएगी। कहेगी—'देव मेरे, मैं तुम्हारी हूँ; मुझे अपने आश्रय में लो।'

और, वह अपने देवता से मान करेगी, भौंहें सिकोड़ेगी, रूठेगी। कहेगी कृत्रिम रोष से—'...छिः छिः, तुम्हें लाज नहीं आती?...... तुमने मेरी कलाई मरोड़ दी......ऊँह...कितना दर्द कर रहा है जी.......!'

उसका देवता उसे मनायेगा; अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करेगा। कहेगा—'...लीली रानी, तुम्हारी निगोड़ी आँखों ने ही तो यह सब

खुराफात मचा रक्खी है !'...फिर वह स्वप्नों का देश !...लीला रानी बनेगी और उसका देवता राजा !

किन्तु हाय रे ! विवाह-मंडप में बैठे, जब घूँघट की ओट से उसने अपने कल्पित राजा की ओर देखा, तो उसकी धमनियाँ जैसे रुक गईं। खून पानी हो गया। यह क्या वही तरुण था ? वही देवता, जिसपर उसने अपनेको न्योछावर कर देना चाहा था ?

पतिदेव का चेहरा पीला था; आँखें धँसी थीं; गालों में गड्ढे थे। उम्र युवावस्था को पार कर अधेड़पन में जा पहुँची थी। लीला का धड़कता हुआ हृदय एकाएक स्थिर हो गया था। यही उसके स्वप्नों का राजा था ? इसी से वह मान करेगी ? इसी को फूलों की माला पहनायेगी ?

आँसू निकलना चाहते थे; किन्तु आँखों तक आते-आते वे सूख जाते थे। उस क्षण, उस घड़ी, लीला एक पत्थर की मूर्ति बन गई थी।

विवाह के उपरान्त वह अपने पति-गृह गई। देखा, घर सूना है। पतिदेव की यह दूसरी शादी थी। लीला उसकी दूसरी धर्मपत्नी थी !

पतिदेव ने घर पहुँचते ही कहा—'देखो, खर्च ठिकाने से होना चाहिये। मुझे फिजूलखर्ची पसन्द नहीं। आजकल दूकान की आमदनी कम हो गई है।'

प्यार के शब्दों के बदले लीला ने यह सुना ! एकान्त में, कपाल ठोक कर, वह रुँधे गले से बुदबुदाई—'भगवान्, यह मेरे किस जन्म का पाप था ?'

और, लीला का भूखा नारीत्व छटपटा उठा। वह किस रेगिस्तान से फेंक दी गई! यदि पिताजी को दहेज के रुपये न थे तो उसे जहर पिला देते; किन्तु जानबूझकर यह नरक, यह मरुभूमि!

पतिदेव शराबी थे। शिक्षा भी नाम-मत्र को मिली थी; किन्तु बैंक में कई हजार रुपये सुरक्षित थे। सस्ती शराब पीकर, आधीरात के वक्त वे झूमते हुए आते और लीला को ऐसे वाक्यों से सम्बोधन करते जिन्हें कोई भी सभ्य व्यक्ति सुनना पसन्द नहीं करता।

खून के घूँट पी लीला सब सुनती। सत्रह साल की उम्र में जब यौवन का तूफान उफना रहा था, लीला हृदय पर पत्थर धरकर सब सहती। किन्तु उसका नारीत्व? "

(वह छटपटा रहा था;) कभी इस करवट, कभी उस करवट। एक घूँट जल के लिये लीला का कंठ तृषित था।

और, पास के दोतल्ले मकान में प्रकाश की एक किरण दीख पड़ी।

लीला ने देखा, उसके स्वप्नों से बिल्कुल मिलता-जुलता वह देवता था। वैसा ही भव्य चेहरा; वैसी ही अनियारी आँखें; वैसी ही मधुर मुस्कान!

खिड़की के ठीक सामने ही उसके पढ़ने का कमरा था!

लीला ने जाना, वह वकील साहब का लड़का है; नाम है गोविन्द।

'गो···वि···न्द?' हल्के दुहरा गई लीला और गोविन्द भी लीला की ओर झुकता गया। पहले दिन ही दोनों मुस्कुरा पड़े।

उस मुस्कुराहट ने लज्जा का पर्दा फाड़ डाला। गोविन्द कदम बढ़ाता गया। चिट्ठियों का आदान-प्रदान जारी रहा। गोविन्द लिखता :—

'मेरे स्वप्नों की रानी, मैं तुम्हें चाहता हूँ। मेरे जीवन की रागिणी हो तुम...मेरे वीणा के तार हो तुम...मेरी कल्पना की तस्वीर हो तुम...लीला, मेरेटूटे हुए दिल की धड़कन हो तुम !'

और, उस पुर्जे को लीला बार-बार पढ़ती। उसका हृदय धक्-धक् करने लगता। क्या सच ? उसने लिखा है—'लीला, मेरे टूटे हुए दिल की धड़कन हो तुम !'

'गो···वि···न्द !' लीला का अस्फुट स्वर आप-ही-आप बाहर हो जाता।

और, एक दिन वह भी आया जब दोपहर के सन्नाटे में लीला गोविन्द के साथ बनारस भाग आई।

जब तक लीला के पास गहने रहे, गोविन्द का प्यार छलकता रहा। लीला समझती थी अब उसके जीवन में वसन्त आया।

किन्तु हाय रे ! यह भी तो मिट्टी का घड़ा साबित हुआ !

उस दिन लीला ने कहा—'अब मेरे पास कुछ भी नहीं है।'

'क्या ?' गोविन्द का चेहरा सर्द हो गया।

'अब तुम्हें कमाना होगा; सब जेवर खतम हो चुके।'

गोविन्द चुप रहा।

'अब तुम्हारी जिम्मेवारी शुरू होती है।'

'जिम्मेवारी ?' गोविन्द चौंका।

'हाँ।'

कुछ देर तक गोविन्द मौन रहा; फिर चहलकदमी करता हुआ बोला—'मैं नाहक इस पचड़े में पड़ा।'

'क्या ?' लीला पर मानो बिजली गिरी।

'यही...तुम्हारे साथ भागकर मैंने अच्छा नहीं किया।'

'अच्छा नहीं किया ?'

'नहीं।'

'तो तुम्हारा वह प्रेम...वह जीवन की रागिणी...'

'हटाओ भी...' झुँझलाकर गोविन्द बोला—'वह तो जवानी का एक नशा था।'

'नशा ?'

'हाँ।'—रुखाई से गोविन्द ने कहा।

'तो अब...?' लीला की आवाज भर्राई थी।

'अब क्या...तुम-जैसी वेश्या के संग रहकर कौन अपनी जिन्दगी खराब करे...।'

'वे...श्या !!' लीला को काठ मार गया।

'और क्या ? जो अपने पति को छोड़ सकती है वह किसकी हो सकती है ?'

'ओह...भगवान् !' लीला को चक्कर आ गया। दूसरे ही दिन गोविन्द लापता था।

❀ ❀ ❀

और आज लीला सचमुच की वेश्या है; चन्द चाँदी के सिक्कों

पर अपने नारीत्व को सौंप देती है। कोई भी व्यक्ति लीला को सहज में पा सकता है। यह ध्रुव सत्य है; सच्ची वास्तविकता है।

अभी-अभी, उस सड़क से जो बारात गुजरी है, उसे देखकर लीला अप्रतिभ हो उठी है। वर के वेश में गोविन्द को पहचान कर लीला आज चिल्लाना चाहती है। वह चिल्ला-चिल्लाकर कहना चाहती है—'कायर हो तुम! पुरुष जाति ! तुम्हें धिक्कार है ......तुम पर लानत है......तुम पर मैं थूकती हूँ।'

विराम-विन्दु

लतिका के यहाँ जाते हुए प्रमोद डर रहा था। न जाने एक कैसा स्पन्दन और भय उसके हृदय पर छाया था। आज लतिका दूसरी हो गई होगी। पत्नीत्व के बोझ से दबी हुई लतिका अब क्या वही लतिका होगी ? किन्तु जब वह इस शहर में आ गया है, तो क्यों न एक बार उससे मिल ले ? फिर न जाने उसके जीवन में यह अवसर आवे या न आवे। उसकी ज़िन्दगी का क्या ठिकाना ? और, आज लतिका के इतने समीप पहुँच यह हिचक उसे क्यों हो रही है ? इस संघर्षमय जीवन में यह छिपी लतिका क्यों याद आ गई ? उसका जीवन तो अपना नहीं; अपनेको उसने जनता पर उत्सर्ग कर दिया है। आज इस शहर में जब वह एक नेता की हैसियत से पधारा है, तो फिर लतिका से उसे क्या सरोकार ? वह एक प्रोग्राम से यहाँ आया है; सभा में भाषण देकर उसे दूसरे प्रोग्राम की तैयारी करनी होगी। इस तरह सारे प्रान्त का दौरा उसे करना है। फिर यदि लतिका की याद सतावेगी, तो वह क्या कर सकेगा ?

किन्तु....उसके हृदय में यह मीठा-मीठा-सा दर्द क्यों हो रहा है ? नारी में क्या एक ऐसी सम्मोहिनी शक्ति है या यह उसकी दुर्बलता मात्र है ?

"ओह, भगवान्, मुझे शक्ति दो।" हल्के बुदबुदाया प्रमोद।

× × ×

लतिका···

उसके मन की गाड़ी इधर-उधर जाकर इस 'लतिका' शब्द पर ही क्यों रुकना चाहती है? क्या यही अन्तिम विराम-विन्दु है? इसके बाद कोई प्रश्न नहीं? इस सीधी-साधी, भोली-सी लतिका में क्या इतना आकर्षण है?

लतिका उसकी कोई नहीं। यह भ्रम है, मिथ्या है, अपनेको भुलावे में डालना है। यह उसकी मूर्खता है, अनभिज्ञता है, लतिका पर उसका अधिकार ही क्या है? माना कि लतिका उसके बचपन की यादगार है, उसके साथ उसने मारपीट की है, राजा-रानी बना है; और लड़कपन में जो होना स्वाभाविक है, वे सभी बातें उसके साथ घटी हैं। किन्तु आज जब लतिका उसके कब्जे में नहीं, उसकी ओर देखना भी दुनिया की नजरों में पाप है, तब क्यों यह व्यर्थ-सी बात उसे सता रही है?

यौवन की आँधी में भी लतिका से मुलाकात होती थी, किन्तु अधिक नहीं।

"प्रमोद"—एक बार पुकारा था लतिका ने।

"तुम हो लतिका?" वह जल्दी-जल्दी लतिका के पास पहुँचा था।

"अरे...अरे...हाथ छोड़ दो प्रमोद...कोई देख लेगा तो···।"

"तो क्या होगा लतिका ?" विस्मय से विमुग्ध वह अज्ञानवश पूछ बैठा था।

"तुम इतना भी नहीं समझते...अब मेरी शादी होनेवाली है...।"

"शादी...तुम्हारी, लतिका...!" प्रमोद पीला पड़ गया था।

"तुम्हें इस बात से चोट पहुँची, प्रमोद ?"

प्रमोद कुछ क्षणों तक चुप रहा। फिर लतिका के हाथ को छोड़ता हुआ बोला—"मैं तुम्हें चाहने लगा था लतिका..."

लतिका की दृष्टि नीचे हो गई थी। कुछ क्षणों तक दोनों स्तब्ध थे। लतिका ने फीकी मुस्कुराहट अधरों पर लाकर पूछा—"तो फिर तुम मुझसे घृणा करने लगोगे प्रमोद ?"

"तुमसे लतिका...?" प्रमोद जैसे चौंक गया था और फिर रुककर बोला था—"अच्छा लतिका, हम दोनों का ब्याह नहीं हो सकता ?"

"पागल हो गये हो प्रेमोद ! हिन्दुओं के यहाँ क्या अलग-अलग जाति में ब्याह होता है ?"

इसी समय लतिका की माँ दालान में आकर बोली थी—"अरे, तुम हो प्रमोद, कब आये ?"

× × ×

और, फिर एक दोपहर की याद। कॉलेज से लौटते हुए प्रमोद ने देखा, लतिका पर्दे के भीतर से उसे संकेत कर रही थी। ब्याह के चार महीने बाद वह फिर अपने घर आई थी। इतने दिनों के बाद

लतिका को देखकर प्रमोद खुशी से भर गया था। जल्दी-जल्दी लतिका के निकट जाकर बोला—"तुम आ गई लतिका ?"

हाँ प्रमोद।" लतिका का मुख लाल हो उठा था।

"मैं तुम्हें रोज याद करता था लतिका।"

लतिका के सिर का आँचल गिर गया था। सिन्दूर की एक छोटी-सी लाल रेखा लतिका को कितनी फब रही थी ! प्रमोद एक-टक लतिका के सौन्दर्य को देखता रह गया था।

"चुप क्यों हो गये प्रमोद ?"

"तुम्हें ही देख रहा हूँ लतिका।"

"किन्तु जानते हो।" लतिका ने मुस्कुराते हुए कहा था—"मुझे इस तरह देखना पाप है। मैं अब बहू बन गई हूँ न, इसलिये।"

"पाप ? इसे तुम पाप कहती हो लतिका !" प्रमोद का चेहरा उतर गया था।

"तुम नाराज हो गये, प्रमोद ?...मैंने तो सिर्फ मज़ाक़ किया था...प्रमोद, तुम भी अपना ब्याह क्यों नहीं कर लेते...?"

"ब्याह ?...मैं तो तुमसे ही ब्याह करना चाहता था लतिका..."

लतिका का चेहरा गम्भीर हो गया था। आँखों में आँसू छल-छला आये थे।

"तुम मुझे भूल जाओ प्रमोद।"...और अपने उमड़ते आँसुओं को दबाने वह भाग गई थी।

× × ×

तब से प्रायः सात वर्ष बीत गये। प्रमोद ने अपने जीवन को पूर्णतः देश के कामों में लगा दिया। कभी-कभी ललिता की याद तीव्र हो उठती थी; किन्तु और कामों के बोझ से लतिका की तस्वीर धुँधली हो जाती थी। आज इस शहर में आते ही लतिका प्रखर हो उठी है और उससे मिलने को उसके पैर बढ़े जा रहे हैं। भावों का समुद्र उसे खींचता जा रहा है और अब लतिका का मकान भी समीप आ गया है।

धड़कते हृदय से उसने दरवाज़ा खटखटाया—"कृष्णा बाबू, ओ कृष्णा बाबू!"

भीतर से नारी-कण्ठ की एक ललित आवाज आई—"आफिस गये हैं; पाँच बजे आवेंगे।"

"मैं आया हूँ लतिका..." प्रमोद के स्वर और पैर काँप रहे थे।

दरवाज़ा खुलने के साथ ही लतिका के मुँह से एक हल्की चीख़ निकल गई—"अरे!...तुम प्रमोद...?"

प्रमोद जड़वत् खड़ा था। लतिका भी खोई की खोई रह गई।

"भीतर आओ।"

कमरे में पूर्ण सन्नाटा था। कुछ देर बाद लतिका ने पुकारा—"रेणु, ओ रेणु, देख तो कौन हैं, पहचानती है?"

एक गुड़िया-सी सुन्दर सजी-सजाई लड़की कमरे में दौड़ती आई और प्रमोद को देख ठिठक गई।

"प्रणाम कर, ये तेरे..." कहकर लतिका ने प्रमोद को देखा, प्रमोद ने लतिका को। सुप्त वेदनाएँ मानो भभक उठीं।

लतिका ने रुकते हुए कहा—"प्रमोद...तुम ऐसे क्यों हो गये ? तुमने अब तक शादी न की !...जानते हो प्रमोद, इसके लिये मैंने कितने आँसू बहाये....बोलो, इस बार मैं वचन लेकर ही छोड़ूँगी... तुम्हें इस तरह घुल-घुलकर मरने नहीं दूँगी प्रमोद... ।

"लतिका, मैं जाऊँगा...।" प्रमोद के ललाट से पसीना चू रहा था और वह घबड़ाया-सा दीख रहा था।"

"इतनी जल्दी...?" लतिका को जैसे विश्वास न हुआ ।

"हाँ, लतिका...मैं नहीं ठहर सकूँगा...।"

"प्रमोद···?"

"मुझे जाने दो लतिका...यहाँ आकर मैंने अच्छा नहीं किया...।" कहकर प्रमोद उठ खड़ा हुआ ।

"प्रमोद, सुनो भी..." लतिका का स्वर गीला था ।

प्रमोद लड़खड़ाते पैरों से इस तरह तेज़ी से चला जा रहा था, मानो वह किसी कड़ी कैद से छूटा हो । और, लतिका गुमसुम, अपलक नयनों से तब तक देखती रही, जब तक प्रमोद की आकृति बड़े-बड़े मकानों से छिप नहीं गई ।

श्रीराधाकृष्ण प्रसाद लिखित 'विभेद' पर दो प्रमुख पत्र

"प्रस्तुत कहानी-संग्रह इस बात का उदाहरण है कि जब-तब हिन्दी में भी अच्छी कहानियाँ निकल जाया करती हैं। आये दिन कहानी के नाम पर बेमानी उच्छ्वासपूर्ण रोमांटिक कहानियों के जमघट में से इस किताब की कहानियों का खरापन आसानी से चमकता है। ये (कहानियाँ) युग की एक बड़ी सशक्त और आवश्यक पुकार को हिन्दी-पाठक के आगे पेश करती हैं। आज के पूँजीवादी समाज को रोग की तरह से घेरे हुए जो भीषण विसंगति है, उसकी कचोट से लेखक की सहृदयता इन कहानियों में मुखर हो उठी है। वह मनीषि और विचारक के दृष्टिकोण से समाज के भीतर फैलते शोषण के कोढ़ को देखता है और कलाकार की सहृदयता द्वारा उस अनुभूति को कहानी का रूप देता है। भावना और बुद्धितत्त्व का सुन्दर सम्मिश्रण कलाकार के चिन्तक और भावुक रूप का आवश्यक संयोग इन कहानियों में मिलता है। आप नयी कहानियों के इस किताब को अवश्य पढ़िये। वे पढ़ने लायक हैं।"

—'साहित्य-संदेश' (आगरा, दिसंबर, १९४०)

"आपकी कला में जीवन की विषमता कूट-कूटकर भरी है मानो आपके साँचों में समाये न समाती हो! एक गहरा कठोर अवसाद आपके मन पर छा गया है और सरल होकर वह नहीं पाता। उसी व्यथा और मर्मित पीड़ा को 'विभेद' के पात्र व्यक्त [illegible] हैं।...कथानक का तरल प्रवाह...जीवन का मर्मस्पर्शी चित्रण...पात्रों की सजीवता... भाषा में बल...। हमारे मन में 'विभेद' के लेखक की अनुभूतियों के प्रति विशेष आदर है...।"

—'हंस' (काशी, जनवरी १९४१)

'देवता' पर तीन मान्य सम्मतियाँ

"प्रस्तुत संग्रह में नौ कहानियाँ और छः शब्दचित्र हैं। कहानियाँ बालकों के लिये हैं और शब्दचित्र नवयुवकों के लिये। इस प्रकार यह पुस्तक बाल और तरुण दोनों वर्गों के लिये उपयोगी बन गई है। इसमें बाल-मनोविज्ञान और युवक-हृदय का आदर्श चित्रित है। राष्ट्र के इस क्रान्तिकाल में जब हम एक नवजीवन का स्वप्न देख रहे हैं, इस प्रकार के साहित्य का लिखा जाना मंगल का द्योतक है। 'परिश्रम का मूल्य' और 'हरिया' दोनों कहानियाँ अपने ढंग की बहुत सुंदर हैं। शब्दचित्रों की भाषा बहुत ही प्रभावपूर्ण और गतिशील है। 'कार्लमार्क्स' का चित्र काफी पूर्ण और सुथरा है···पुस्तक सुंदर और उपादेय है।"—

'साहित्य-संदेश'

"बिहार-प्रान्त के कहानी-लेखक श्रीराधाकृष्णप्रसाद की पन्द्रह छोटी-छोटी आख्यायिकाओं का यह संग्रह अभी थोड़े दिन हुए प्रकाशित हुआ है। कहानियों की शैली अच्छी है और भाषा पर्याप्त परिमार्जित—संग्रह अच्छा बन पड़ा है। कहानी-कला के प्रेमी इसे अवश्य पढ़कर देखें।"

—'सुधा'

"इस पुस्तक में नव कहानियाँ और छः शब्दचित्र हैं। इन सभी रचनाओं की भाषा ललित, सरस, सजीव और प्रसाद-गुण-पूर्ण है। कहानियों की प्राञ्जल भाषा में भावुकता और सहृदयता बड़े मर्मस्पर्शी ढंग से ध्वनित हो रही है। शब्दचित्रों की कवित्वमयी भाषा में मधुर कल्पनाओं और सन्देशवाहिनी सूक्तियों ने जीवन डाल दिया है···आपमें एक ऐसी शक्ति का स्फुरण दृष्टिगत हो रहा है जो साहित्य के सँवारने में निपुण सिद्ध होगी।" —प्रोफेसर शिवपूजनसहाय